सम्पादकीय

गहराता आर्थिक-सामाजिक संकट : दवा के नाम पर जहर

5 अक्टूबर को विश्व आर्थिक मंच के भारत सम्मेलन में एयरटेल कम्पनी के मालिक भारती मित्तल ने कहा कि "200 सबसे बड़ी कम्पनियों द्वारा छँटनी किया जाना और आनेवाले समय में वहाँ कोई नयी नौकरी पैदा न होने की सम्भावना गम्भीर चिन्ता का विषय है। इस तरह सम्पूर्ण बिजनेस समुदाय के लिए समाज को साथ लेकर चलना कठिन से कठिनतर हो जायेगा। इस तरह आप करोड़ों लोगों को पीछे छोड़ देंगे।" उनका यह भी कहना था कि "पिछले कुछ साल हमारे लिए अच्छे नहीं रहे हैं। धन का बँटवारा समाज के स्तर तक नहीं पहुँचा है। इसके चलते राजनीतिक व्यवस्था के ऊपर भी भारी दबाव बढ़ रहा है।"

जिस बेरोजगारी और छँटनी पर मित्तल ने चिन्ता जाहिर की, उसके बारे में उसी सम्मेलन में बोलते हुए केन्द्रीय रेलवे और कोयला मंत्री पियूष गोयल ने बड़े ही बेफिक्री भरे लहजे में कहा कि "कम्पनियों द्वारा नौकरियों में कटौती किया जाना तो शुभ संकेत है। इसका मतलब यह कि अब आनेवाले कल के नौजवान नौकरी पानेवाला नहीं, बल्कि नौकरी देनेवाला बनना चाहते हैं। नयी पीढ़ी नौकर नहीं, उद्योगपति बनना चाहती है।"

भारतीय अर्थव्यवस्था में हो रही तेजी से गिरावट को लेकर एक पूँजीपति और एक केन्द्रीय मंत्री के ये दो बयान, इस समस्या के प्रति दो अलग-अलग रुख को दर्शाते हैं। यह लगातार चौथी तिमाही है जब आर्थिक विकास दर गिर रही है। जून-सितम्बर 2016 में विकास दर 9.2 प्रतिशत थी जो उसके ठीक बाद नोटबन्दी लागू होनेवाली तिमाही से गिरनी शुरू हुई और 30 जून को खत्म होनेवाली तिमाही में 5.7 प्रतिशत रह गयी। इसी अवधि में पिछले साल विकास दर 7.9 प्रतिशत थी। मित्तल ने बेरोजगारी का हवाला देते हुए इसी आर्थिक संकट की ओर संकेत किया था। देश की बड़ी कम्पनियों द्वारा रोजगार में कटौती किये जाने का सीधा सम्बन्ध उनके नये निवेश और उत्पादन में गिरावट से है। इस कड़वी सच्चाई को स्वीकार करने के बजाय पियूष गोयल ने इसे हँसी-मजाक में उड़ा दिया। पिछले दिनों भाजपा के वरिष्ठ नेता और बाजपेयी सरकार में वित्त मंत्री रहे यशवंत सिन्हा ने अपने एक लेख में अर्थव्यवस्था के ठहराव और देश की बिगड़ती हालत पर जब सरकार की आलोचना की, तो वित्त मंत्री ने उनकी बातों का मजाक उड़ाते हुए कहा था कि वे अस्सी साल की उम्र में नौकरी माँग रहे हैं। कुछ ऐसा ही बर्ताव भाजपा के एक अन्य बड़े नेता अरुण सौरी की आलोचनाओं को लेकर भी किया गया। मोदी समर्थकों ने एक ऐसी संस्कृति को बढ़ावा दिया है, जहाँ सरकार की आलोचना करनेवाले को देशद्रोही करार दिया जाना आम बात है।

दरअसल नोटबन्दी लागू होने के बाद से ही देश और दुनिया की जानी-मानी क्रेडिट रेटिंग एजेंसियों, अन्तरराष्ट्रीय संगठनों और यहाँ तक कि भारत सरकार की संस्थाओं ने भी उसके नतीजे के तौर पर उत्पन्न हो रहे आर्थिक संकट की ओर सरकार का ध्यान दिलाया। लेकिन सरकार का रुख इन सच्चाइयों पर पर्दा डालने और अपने आलोचकों को बदनाम करने का ही रहा। इसी के साथ-साथ मोदी सरकार और उनके अन्ध-समर्थक अपनी हर असफलता के लिए पिछले सत्तर साल के शासन को दोषी ठहराकर उससे पल्ला झाड़ते रहे।

यशवंत सिन्हा की आलोचना के बाद से उनकी अवस्थिति का समर्थन करते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था की बदहाली बताने वाली कई रिपोर्टें सामने आयीं--

10 अक्टूबर को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने अपनी रिपोर्ट में अपने पहले के विकास दर अनुमान 7.2 प्रतिशत को घटाकर 6.7 प्रतिशत कर दिया। उसने इस गिरावट के लिए असंगठित क्षेत्र की तबाही को जिम्मेदार माना और इस पर विशेष ध्यान देने की सिफारिश की।

11 अक्टूबर को विश्व बैंक ने "साऊथ एशिया इकोनोमिक आउटलुक" में भारत की अर्थव्यवस्था में गिरावट की चर्चा की। उसने विकास दर का अनुमान घटाकर 7 प्रतिशत कर दिया और कहा कि आतंरिक कारणों से निजी क्षेत्र के निवेश में भारी कमी इसकी वजह है, जिसके चलते विकास दर और भी कम हो सकती है। उस रिपोर्ट में साफ तौर पर बताया गया कि नोटबन्दी के कारण आर्थिक गतिविधियों में आयी रुकावट और जीएसटी के चलते कारोबार जगत में अनिश्चितता बढ़ने के कारण भारत की आर्थिक रफ्तार कम हो गयी है।

इसी के साथ-साथ एशियन डेवलपमेंट बैंक ने भी अपने पूर्ववर्ती अनुमान 7.4 प्रतिशत को घटाकर 7 प्रतिशत और रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने 7.3 प्रतिशत से घटाकर 6.7 प्रतिशत कर दिया।

अक्टूबर में एक के बाद आनेवाली इन रिपोर्टों से एक महीना पहले ही, 15 सितम्बर को यूनाइटेड नेशन कमीशन फॉर ट्रेड एन्ड डेवलपमेन्ट (अंकटाड) ने अपनी "ट्रेड एन्ड डेवलपमेन्ट रिपोर्ट 2017" में भारतीय अर्थव्यवस्था के बिगड़ते स्वास्थ्य का हाल बताते हुए कहा था कि "अनौपचारिक क्षेत्र, जो अभी भी देश के सकल घरेलू उत्पाद का कम से कम एक तिहाई और रोजगार के अस्सी प्रतिशत भाग के लिए जिम्मेदार है, नवम्बर 2016 में सरकार द्वारा 'नोटबन्दी' लागू किये जाने से बुरी तरह प्रभावित हुआ और जुलाई 2017 से जीएसटी लागू किये जाने से और भी ज्यादा प्रभावित हुआ है। इस प्रकार, अगर

चीन और भारत दोनों में विकास का मौजूदा स्तर कायम भी रहे, तो यह सम्भव नहीं है कि ये देश हाल-फिलहाल वैश्विक अर्थव्यवस्था के विकास की धुरी बन पायेंगे।" रिपोर्ट में आगे कहा गया था कि "सभी बैंकों (सार्वजनिक और निजी) से प्राप्त आँकड़े यह बताते हैं कि पिछले 12 महीनों में डूबने लायक कर्जों में 59.3 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है, कुल दिये गये कर्जों में एनपीए का अनुपात 2012 के अन्त में 3.5 प्रतिशत था अब 9.3 प्रतिशत हो गया है। अंकटाड ने भी इस साल के विकास दर अनुमान को 7 प्रतिशत से घटाकर 6.7 प्रतिशत कर दिया था, लेकिन तब इन असुविधाजनक तथ्यों और सूचनाओं पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था।

बहरहाल, 12 अक्टूबर को प्रधानमंत्री आर्थिक सलाहकार परिषद के अध्यक्ष बिबेक देबराय ने यह स्वीकार किया कि भारत की अर्थव्यवस्था मन्थर हुई है। इसके ठीक पहले प्रधानमंत्री ने भी कम्पनी सेक्रेटरी सम्मेलन में अगर-मगर के साथ, नोटबन्दी और जीएसटी को बड़ी उपलब्धि के रूप में गिनवाते हुए, अर्थव्यवस्था की धीमी रफ्तार को स्वीकार किया था। सलाहकार परिषद ने बताया कि इसके कई कारण हैं, जिन पर गहराई से विचार किया जायेगा। उन्होंने अर्थव्यवस्था को पटरी पर लाने के लिए 10 उपाय भी सुझाये, जिनमें अनौपचारिक क्षेत्र को बढ़ावा, सार्वजानिक खर्चे में बढ़ोतरी, रोजगार सृजन जैसे उपाय शामिल हैं। उल्लेखनीय है कि साढ़े तीन साल तक मोदी ने आर्थिक सलाहकार परिषद का गठन ही नहीं किया था। सत्ता में आते ही योजना आयोग को भंग करके उन्होंने जिस नीति आयोग का गठन किया था, उसकी स्थिति भी आपसी बहस और बयानबाजी से ज्यादा नहीं रही। यशवंत सिन्हा ने अपने लेख में "ढाई लोगों द्वारा देश चलाये जाने" की जो बात कही थी, वह बेमतलब नहीं थी।

खैर, अब यह बात दिन के उजाले की तरह साफ हो गयी है कि भारत की अर्थव्यवस्था चौतरफा संकट का शिकार है। विकास दर में गिरावट तो इसका सिर्फ एक पक्ष है। आर्थिक-सामाजिक जिन्दगी का कोई पहलू आज इससे अछूता नहीं है। एक साल पहले की तुलना में जुलाई 2017 में औद्योगिक उत्पादन में सिर्फ 1.2 प्रतिशत की वृद्धि हुई। निवेश की माँग में वृद्धि पिछले साल 7.4 प्रतिशत की तुलना में अब सिर्फ 1.6 प्रतिशत ही रह गयी है। रिजर्व बैंक के मुताबिक बैकों का एनपीए 9,50,000 करोड़ रुपये तक पहुँच गया। अप्रैल-जून में बैंकों की उधारी दर नकारात्मक हो गयी, जिसका सीधा अर्थ है कि वे कम्पनियों को नये कर्ज देने की स्थिति में नहीं हैं। इसका सीधा असर टाटा जैसे पूँजीपति घरानों पर भी पड़ रहा है जिसके चलते टाटा टेलिसर्विसेज 50-60 हजार करोड़ के कर्ज न मिलने के चलते बन्दी के कगार पर है, और वहाँ से 5,000 कर्मचारियों को निकालने की तैयारी चल रही है। टाटा समूह की कई दूसरी कम्पनियाँ भी बन्दी के कगार पर हैं। लार्सन एन्ड टुब्रो ने 14,000 कर्मचारियों की छँटनी की। पिछले तीन सालों में 67 कपड़ा मिलें बन्द हुईं, जहाँ काम करनेवाले 17,000 स्थाई कर्मचारी बेरोजगार हो गये। इन्डियन एक्सप्रेस के एक सर्वे के मुताबिक शेयर बाजार में सूचीबद्ध कम्पनियों में से ज्यादातर ने पिछले साल की तुलना में कर्मचारियों की संख्या में कटौती की। इस लेख की शुरुआत में 200 सबसे बड़ी कम्पनियों में रोजगार की हालत पर भारती मित्तल का बयान भी इसी सच्चाई को पुष्ट करता है। "मेक इन इंडिया" और "स्किल इंडिया" जैसी बहुप्रचारित योजनाओं ने जितने रोजगार सृजित नहीं किये, उससे कई-कई गुणा ज्यादा लोग तालाबन्दी और छँटनी के शिकार हुए हैं।

देश की सबसे बड़ी निजी भर्ती कंपनियों में से एक, टीमलीज सर्विसेज लिमिटेड के मुताबिक, भारत में पिछले साल की तुलना में विनिर्माण क्षेत्र में 30 प्रतिशत से 40 प्रतिशत रोजगार की कमी आना तय है। जबकि अन्य सर्वेक्षण भी बहुत उत्साहवर्धक नहीं हैं। ऐसे में मोदी के उस वादे का क्या होगा, जिसमें हर साल एक करोड़ से अधिक लोगों को नौकरी देने की बात कही गयी थी?

जब संगठित क्षेत्र का ये हाल है तो असंगठित क्षेत्र की दशा क्या होगी? ऊपर दिये गये कई रिपोर्टों में असंगठित क्षेत्र के ऊपर नोटबन्दी और जीएसटी के घातक प्रभावों का जिक्र आया है। बिजनेस लाइन की एक रिपोर्ट के मुताबिक पिछले साल इस क्षेत्र की 1,52,000 स्थायी और 46,000 अस्थायी नौकरियाँ खत्म हुई हैं। श्रम मंत्रालय के आँकड़े बताते हैं कि पिछले एक साल में नये रोजगार पैदा होने की दर में 84 प्रतिशत की गिरावट आयी है। राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण द्वारा किये गये 'रोजगार और बेरोजगारी सर्वे' तथा लेबर ब्यूरो के आँकड़ों के मुताबिक सबसे ज्यादा श्रम शक्ति खपाने वाले असंगठित क्षेत्र-- खेती, भवन निर्माण, छोटे-मझोले उद्योग और व्यापार में रोजगार विकास दर 2016-17 की अंतिम तिमाही से शुरू होकर 2017-18 में लगातार गिरती गयी है। जाहिर है कि रोजगार में गिरावट ने मजदूरों के सबसे कमजोर तबके को ही सबसे बुरी तरह अपनी चपेट में लिया है। इसका नतीजा भुखमरी, बीमारी और मौत के रूप में सामने आया है।

इंटरनेशनल फूड पॉलिसी रिसर्च इंस्टीट्यूट की सालाना रिपोर्ट "वैश्विक भूख सूचकांक" में भारत की स्थिति नयी सरकार आने के बाद से लगातार बदतर हुई है। विकासशील देशों में भुखमरी के मामले में 119 देशों में भारत 2014 में 55वें पायदान से गिरकर आज 100वें पायदान पर आ गया है। सबको भोजन मुहैया करने के मामले में अफगानिस्तान और पाकिस्तान को छोड़कर भारत एशिया के सभी देशों से पीछे है। रिपोर्ट में कहा गया है कि बाल कुपोषण ने इस स्थिति को और अधिक गम्भीर बना दिया है।

आर्थिक तबाही का ही नतीजा है कि भर पेट भोजन ही नहीं, बल्कि विश्व सूचकांक के हर मामले में भारत की स्थिति बद से बदतर होती गयी है-- हमारा देश आज मानव विकास सूचकांक में 131वाँ, खुशहाली सूचकांक में 122वाँ, प्रेस की आजादी में 136वाँ, शिशु एवं बाल मृत्यु दर में 177वाँ और बाल अधिकार में 97वाँ स्थान पर है। बाल श्रम की स्थिति यह है कि अकेले आन्ध्र प्रदेश में निजी कम्पनियाँ 2,00,000 बाल श्रमिकों को काम पर रखती हैं और नयी सरकार ने कानून बनाकर बाल श्रम को कुछ क्षेत्रों में वैध करार दिया है।

एक तरफ इतनी बदहाली, तो दूसरी तरफ आये दिन अरबपतियों-खरबपतियों की संख्या में नये-नये नाम जुड़ रहे हैं। इनमें एक नाम बाबा रामदेव की पतंजलि का भी है, जिसकी आमदनी पिछले साल 173 प्रतिशत बढ़ी और आज कुल सम्पत्ति 70,000 करोड़ पहुँच गयी, जबकि पतंजलि के मालिक ने खुद स्वीकार किया कि दस साल पहले उसके नाम से कोई बैंक खाता भी नहीं था। भाजपा अध्यक्ष के बेटे जय शाह की कमाई में तीन साल के भीतर 16,000 गुणे की बढ़ोतरी भी चर्चा में है। इस त्वरित गति से हुई कमाई पर कोई बहस नहीं है, बहस इस बात पर है कि यह कमाई भ्रष्टाचार से हुई या शिष्टाचार से। एक रिपोर्ट के मुताबिक भारत में गरीबी-अमीरी की खाई अंग्रेजी राज में शुरू हुई गणना, 1922 के बाद आज अपने चरम पर है जहाँ 1 प्रतिशत लोग 58 प्रतिशत सम्पत्ति के मालिक हैं। यह स्थिति दूसरे छोर पर स्थित गरीब जनता की नरक से भी बदतर जिन्दगी के लिए तो जिम्मेदार है ही, यह पूँजीवादी व्यवस्था के लिए भी घातक है। मुट्ठीभर लोगों की खुशहाली के दम पर कोई भी अतार्किक और अन्यायपूर्ण व्यवस्था ज्यादा दिन कायम नहीं रह सकती।

भारत की आर्थिक-सामाजिक स्थिति मोदी के प्रधानमंत्री बनने से पहले भी कोई अच्छी हालत में नहीं थी। पिछले चुनाव में विकास पुरुष की छवि बनाकर कांग्रेस की जगह चुनाव जीतने का असली कारण भी यही था कि मनमोहन सरकार ने लोगों का जीना दूभर कर दिया था। लेकिन मोदी सरकार ने किसी वैकल्पिक नीति पर चलने के बजाय कांग्रेस की पुरानी नीतियों को ही और तेजी से आगे बढ़ाया। नया बस इतना ही था कि लोगों की उम्मीदों और अपनी सफलता को लेकर शब्दजाल और लफ्फाजी में मोदी ने सबको बहुत पीछे छोड़ दिया। दूसरे, लोकतांत्रिक प्रक्रिया को दरकिनार करके, राय-सलाह और आलोचना की अनसुनी करके चन्द लोगों को साथ लेकर कोई अनोखा चमत्कार करने का मंसूबा बनाया गया। आनन-फानन में नोटबन्दी और जीएसटी लागू करना इसी का नतीजा था जिसने पहले से ही संकटग्रस्त अर्थव्यवस्था को रसातल की ओर धकेल दिया।

1991 में नयी आर्थिक नीति के नाम से नवउदारवादी नीतियों के लागू होने और आत्मनिर्भर विकास को तिलांजलि देकर विदेशी पूँजी और विदेशी बाजार को कमान में रखते हुए अर्थतन्त्र का ढाँचागत समायोजन किये जाने के बाद से अब किसी भी पार्टी का उन नीतियों से कोई बुनियादी मतभेद नहीं रहा। यानी अपने स्रोत-साधनों के दम पर, अपने देश की जनता की खुशहाली को ध्यान में रखते हुए, खेती और उद्योग का आत्मनिर्भर विकास करना अब किसी भी पार्टी के एजेन्डे में नहीं रहा। अब विदेशी पूँजी और विदेशी बाजार पर निर्भरता और इसके लिए हर तरह की सहूलियतें मुहैया करना ही आर्थिक नीति के केन्द्र में है। मोदी सरकार ने भी यही किया। हालाँकि लाख कोशिशों के बावजूद 'मेक इन इंडिया' और 'स्टार्ट अप इंडिया' के नाम पर विदेशी पूँजी को लुभाने का काम परवान नहीं चढ़ा। सस्ता श्रम, आसान श्रम कानून, हड़तालों पर रोक, टैक्स में छूट, पर्यावरण विनाश की कीमत पर खतरनाक उद्योगों को इजाजत, पुराने जर्जर तकनीकों के लिए समझौते और तमाम तरह की आकर्षक सहूलियतों के बावजूद जिस चमत्कार की उम्मीद थी, वह पूरी नहीं हुई।

विदेशी पूँजी को लुभाने के लिए सैनिक सुरक्षा, बैंक, बीमा, खुदरा व्यापार सहित कई क्षेत्रों में विदेशी पूँजी निवेश की सीमा 100 प्रतिशत किये जाने का भी कोई खास असर नहीं हुआ। कांग्रेस सरकार के दौरान प्रत्यक्ष विदेशी निवेश 2011-12 में 4,655.6 करोड़ डॉलर और 2012-13 में 3,429.8 करोड़ डॉलर था, जबकि मोदी सरकार के काल में मामूली बढ़त के साथ 2014-15 में 4,514.8 करोड़ डॉलर और 2015-16 में 5,545.7 करोड़ डॉलर तक ही पहुँचा। संस्थागत विदेशी निवेश की स्थिति भी अच्छी नहीं है। पिछली सरकार के दौरान संस्थागत विदेशी निवेश 2012 में 1,63,347.9 करोड़ रुपये और 2013 में 62,286 करोड़ रुपये था, जबकि मोदी सरकार के दौरान 2015 में 63,663 करोड़ रुपये और 2016 में -23,079 करोड़ रुपये (ऋणात्मक) हो गया।

यहाँ एक बात पर गौर करना जरूरी है कि विदेशी निवेश बढ़ने से जो आभासी विकास दिखता है, उससे समाज में समृद्धि बढ़े और लोगों का जीवन स्तर ऊँचा उठे, यह जरूरी नहीं। विकास दर के अनुपात में मजदूरी में गिरावट, जोकि आर्थिक सुधारों के पच्चीस साल से लगातार जारी है, उसके चलते लोगों के उपभोग में गिरावट होना तय है। इसका सीधा असर बाजार पर होता है। घरेलू बाजार का शॉकएब्जॉर्बर न हो तो अर्थतन्त्र की कमानी का टूटना लाजिमी होता है।

जहाँ तक घरेलू पूँजी निवेश की बात है, बैंकों के एनपीए की लगातार बिगड़ती हालत, जिसकी चर्चा ऊपर की गयी है, उसके चलते नये निवेश की तो बात ही क्या, पुरानी कम्पनियों की पूँजीगत माँग पूरी करने में भी नाकामी ही हाथ लगी। इसका ताजा उदाहरण है-- टाटा टेलिसर्विसेज जो 50-60 हजार करोड़ के कर्ज न मिलने के चलते बन्दी के कगार पर पहुँच गया।

नोटबन्दी और जीएसटी ने इस कोढ़ में खाज का काम किया। जब 86 प्रतिशत नगदी अचानक प्रचलन से बाहर हुई, तो असंगठित क्षेत्र और छोटे-मझोले उद्यमों की कमर टूट गयी। मोदी सरकार ने विकास को गति देने के लिए जिस रियल एस्टेट और भवन निर्माण को ढेर सारी सहूलियतें दी थी, वह पहले ही मंदी का सामना कर रहा था। दिल्ली के आसपास और देश के कई बड़े शहरों में गगनचुम्बी इमारतों की कीमत में गिरावट तो आयी ही थी, इसके बावजूद ज्यादातर मकान बिना बिके पड़े थे। रही सही कसर नोटबन्दी ने पूरी कर दी, क्योंकि इस काम में लागत और बिक्री दोनों ही मामले में भारी पैमाने पर नगदी की जरूरत होती है। सबको पता है कि प्लाट या मकान की हर खरीद-बिक्री में 'चेक से' और 'नगद' दोनों ही तरह के लेन-देन होते हैं। रियल एस्टेट की मंथरता ने सीमेंट, सरिया और भवन निर्माण सामग्री के दूसरे कारोबार को भी अपनी चपेट में ले लिया। यह वही दौर था, जब सबसे ज्यादा कारोबारी तबाह हुए और लाखों मजदूरों को नौकरी से हाथ धोना पड़ा। इस मुसीबत से अभी

राहत भी नहीं मिली कि जुलाई से जीएसटी का प्रकोप शुरू हो गया। जिस जीएसटी को लागू करके सरकार फूले नहीं समा रही थी, वही आज उसके गले की हड्डी बन गयी है। पिछले चार महीने से लगातार अलग-अलग उद्यमों और व्यवसायों में लगे तबके इसका विरोध कर रहे हैं और सरकार को बार-बार जीएसटी दरों में फेर बदल भी करनी पड़ रही है। रिजर्व बैंक के अनुसार मार्च 2017 में छोटी कम्पनियों की बिक्री में 58 प्रतिशत की कमी आयी थी। जीएसटी ने उनको और भी बुरी हालत की ओर धकेल दिया। त्योहारों की खरीदारी पर उनकी उम्मीद टिकी थी, लेकिन उस पर भी पानी फिर गया। आज बाजार में पहले जैसी चमक कहीं नहीं है।

दरअसल आज का संकट किसी एक कारक की वजह से या किसी तकनीकी कारण से नहीं है, यह पूँजीवादी व्यवस्था का चिरन्तन संकट है, असमाधेय संकट है। इस आर्थिक संकट की जड़ें व्यवस्था के ढाँचे में है। नवउदारवादी नीतियों ने इस संकट को विश्वव्यापी बना दिया है। धनी देशों के संकट का बोझ विकासशील देशों के ऊपर लादा जा रहा है और विकासशील देश अपना यह दोहरा संकट अपने देश की बहुसंख्य मेहनतकश आबादी के ऊपर थोप रहे हैं। और तो और जब इन नीतियों के चलते किसी देश में आर्थिक तबाही आती है और जनता की दुर्दशा बढ़ती है जैसा आजकल देखने में आ रहा है, तब अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक उस देश में आर्थिक सुधारों को और कठोरता से लागू करने की सिफारिश करते हैं। देशी-विदेशी पूँजी के गँठजोड़ पर आधारित जिन जन विरोधी नीतियों के चलते तबाही आयी, उनको दोषी ठहराने और उनको पलटने की जगह उनकी रफ्तार तेज करने की माँग की जाती है।

15 अक्टूबर को अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक की बैठक में भाग लेने वाशिंगटन डीसी गये वित्त मंत्री जेटली ने एक बयान में कहा कि "भारत सरकार ने अर्थव्यवस्था में सुधार के लिए जो कड़े कदम उठाये हैं। उसपर आने वाले किसी भी चुनाव का असर नहीं होगा और वे जारी रहेंगे।" इसका सीधा मतलब यह है कि सरकार आने वाले दिनों में निजीकरण की रफ्तार बढ़ायेगी, सार्वजनिक सम्पत्ति को कौड़ियों के भाव निलाम करेगी, सार्वजनिक सेवाओं में पहले से भी ज्यादा कटौती करेगी और सबसिडी को जितना सम्भव हो सके कम करेगी। उक्त बैठक में अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष ने जेटली को जो सुझाव दिये हैं, उनका यही आशय है। इसका नतीजा क्या होगा, यह आसानी से समझा जा सकता है। तीन सालों में भुखमरी की हालत जितनी बुरी हुई है, बेरोजगारी जितनी बढ़ी है और लोगों का कंगालीकरण जिस तेजी से हो रहा है, उसमें कमी आने की जगह और ज्यादा बढ़ोतरी होगी।

लोग अपने जीवन के कटु अनुभव से इसे समझने लगे हैं और संघर्ष के लिए उठ खड़े हो रहे हैं। देश भर में चल रहे मजदूरों, किसानों, छोटे व्यापारियों और छात्रों-नौजवानों के आन्दोलन इसका ज्वलंत उदाहरण है। झूठे नारों से बहलाना और लोगों के बीच नफरत फैलाने और फूट डालने का खेल भी ज्यादा दिन नहीं चलने वाला। जरूरत है इन छिटपुट लडाइयों को संगठित और चेतनाशील करने और जन विरोधी नीतियों पर निशाना साधने की। संकट गहरा है तो समाधान भी आसान नहीं, लेकिन समाधान जनसंघर्षों से ही निकलेगा।

पाठकों से अपील

❑ 'देश-विदेश' अंक 27 आपके हाथ में है। हमारा प्रयास है कि इसे अनियतकालीन पत्रिका की जगह हर तीन माह पर नियमित प्रकाशित किया जाय।

❑ जिन साथियों को पत्रिका निरन्तर डाक से भेजी जा रही है, वे कृपया सूचित करें कि उन्हें पत्रिका मिल रही है या नहीं और उन्हें आगे से भेजी जाय या नहीं।

❑ देश-विदेश अव्यवसायिक पत्रिका है। यह साथियों के श्रम और सहयोग से ही प्रकाशित होती है। आर्थिक संकट से जूझते हुए अब तक हमने 26 अंक निकाले। पाठकों के सहयोग से ही यह सम्भव हो पाया।

❑ पत्रिका अभी भी अनियमित है, इसलिए नियमित चन्दे की दर तय करना सम्भव नहीं। डाक से मँगवाने के लिए 5 अंकों की सहयोग राशि 100 रुपये या आजीवन सदस्यता न्यूनतम 1000 रुपये निम्नलिखित बैंक खाते में अन्तरित करें। और इसकी सूचना एसएमएस या ई मेल से भेज दें।

नाम : अतुल कुमार गुप्ता
मोबाइल नं. 9810104481
S.B. A/C : 601510100024041
IFSC : BKID 0006015
बैंक ऑफ इंडिया,
जीटी रोड, शाहदरा, दिल्ली-32

मनी ऑर्डर भेजने का पता है-

अतुल कुमार गुप्ता
1/4649/45 बी, गली न. 4,
न्यू मॉर्डन शहादरा
दिल्ली- 110032

रोहिंग्या समुदाय पर म्यांमार की सेना का हमला

--विक्रम प्रताप

(वास्तव में यह खेल प्राकृतिक संसाधनों की लूट का ही हिस्सा है। इसी कार्रवाई का नतीजा है कि अब तक म्यांमार से 5 लाख से अधिक पीड़ित रोहिंग्या मुसलमान पलायन कर चुके हैं। इनके साथ बड़ी संख्या में जनजातीय बौद्ध, ईसाई और अल्पसंख्यक हिन्दू भी पलायन में शामिल हैं।)

म्यांमार के रखाइन प्रान्त में जो हो रहा है, दुनिया भर के लोगों की नजरें उस पर टिकी हुई हैं। रोते-बिलखते बच्चे, बलात्कार की शिकार औरतें, चीख-चीखकर जिन्दा जलते लोग और जान बचाने के लिए अपने 2 साल के भाई के साथ जंगल में भागती 12 साल की लड़की। हिंसा से दूर भागने वाले लोग अपनों के गम में रो-रो कर पागल हो रहे हैं। यह उन कथित आतंकवादियों की एक झलक है, जिसके खिलाफ म्यांमार की सरकार एक अभियान चला रही है। इन आतंकवादियों के खिलाफ जो हथियार बरामद हुए हैं, उनके बारे में सुनकर पैरों के नीचे की जमीन खिसक जाती है। सब्जी काटने के चाकू, घर में बने बम और कट्टे। वे इन हथियारों से टैंक और आटोमैटिक बन्दूकों से सुसज्जित म्यांमार की सेना को चुनौती दे रहे थे। म्यांमार की सरकारपरस्त मीडिया दुनिया की जनमत को गुमराह कर रही है कि वहाँ की सरकार आतंकवाद के खिलाफ एक जंग लड़ रही है। कुल मिलाकर यह म्यांमार की सरकार का बौद्ध देश बनाने की मुहीम का हिस्सा है और उस विचाराधारा का हिस्सा है जो यह मानती है कि एक देश में एक धर्म के अनुयायी ही होने चाहिए। यह कोई जंग नहीं बल्कि नस्लीय सफाये की एक तरफा कार्रवाई है। हालाँकि इसके पीछे की असलियत कुछ और है। वास्तव में यह खेल प्राकृतिक संसाधनों की लूट का ही हिस्सा है। इसी कार्रवाई का नतीजा है कि अब तक म्यांमार से 5 लाख से अधिक पीड़ित रोहिंग्या मुसलमान पलायन कर चुके हैं। इनके साथ बड़ी संख्या में जनजातीय बौद्ध, ईसाई और अल्पसंख्यक हिन्दू भी पलायन में शामिल हैं।

बीबीसी संवाददाता जोनॉथन हैड म्यांमार यानी बर्मा के दौरे पर गये। उन्होंने इस सम्बन्ध में कई जानकारी उपलब्ध करायी है। उन्होंने बताया कि रखाइन प्रान्त में गाँव के गाँव जला दिये गये हैं। गाँव में नारियल के पेड़ों को भी नहीं बख्शा गया। म्यांमार की सरकार रोहिंग्या संकट पर दुनिया को गुमराह कर रही है। वह कहती है कि उसकी हिंसक कार्रवाई रोहिंग्या आतंकवादियों के खिलाफ है लेकिन बांग्लादेश पहुँचे रोहिंग्या लोगों के जरिये कुछ अलग ही कहानी सामने आ रही है। रोहिंग्या शरणार्थियों का कहना है कि सेना और भीड़ उनके गाँव जला रही है और मानवाधिकारों का घोर उल्लंघन हो रहा है। रोहिंग्याओं का भेष बनाकर सेना के लोगों ने इलाके के हिन्दुओं पर हमले किये, ताकि पीड़ित रोहिंग्याओं को ही उलटा दोषी ठहराया जा सके। इसीलिए बर्मा के शरणार्थी शिविरों में रहने वाले कुछ विस्थापित हिन्दू परिवारों के मुताबिक मुसलमानों ने उन पर हमले किये थे और वे डर कर अपने घरों से भागे थे। लेकिन म्यांमार से बांग्लादेश भागे सभी हिन्दुओं का कहना है कि रोहिंग्या जैसे दिखने के चलते उन पर बौद्धों ने ही हमले किये थे।

कई जगहों पर सेना और उसके सहयोगी गुंडों ने मुसलमानों के कपड़े पहनकर रोहिंग्या के घरों में आग लगायी। उनकी इन तस्वीरों को दिखाकर लोगों को गुमराह करने की कोशिश की गयी। हाथों में तलवारें लिए आवारा किस्म के नौजवान किसी भी गाँव में पहुँचकर चारों ओर से आग लगा देते थे। रोहिंग्याओं को मारा-पिटा जाता था। महिलाओं के स्तन काट लिये जाते थे। बाद में जब वहाँ मानवाधिकार कार्यकर्ता और विदेशी पत्रकार पहुँचे तो उन्होंने पाया कि कीचड़ भरे रास्तों पर मुसलमान महिलाओं के कपड़े बिखरे पड़े थे। एक बार तो बलवाई गाँव में आग लगाकर उन पत्रकारों के सामने से ही फरार हो गये जिसे देखकर पत्रकार भौचक्के रह गये थे। बलवाइयों के हाथों में लूट का सामान था, इसलिए वे कैमरे के सामने नहीं आना चाहते थे। पत्रकारों ने उनमें से एक-दो से जब पूछताछ की तो उन्होंने डींग हाँकते हुए कहा कि हाँ, उन्होंने ही पुलिस की मदद से घरों को आग लगायी है और वे रखाइन बौद्ध हैं। कोई उनका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

जिस तरह से दुनिया की तस्वीर बदल रही है और लगभग सभी देशों में नस्लवाद, साम्प्रदायिकता और फासीवाद का उभार हो रहा है और उसके जो भयावह नतीजे आ रहे हैं, उसके बारे में सोचकर किसी भी संवेदनशील व्यक्ति को भारी आघात पहुँच सकता है। म्यांमार से 5 लाख रोहिंग्या मुसलामानों को उनकी जमीन से उजाड़ दिया गया और वे दर-बदर की ठोकरे खाते एक देश से दूसरे देश भटक रहे हैं, कोई उन्हें सहारा देने वाला नहीं है। सभी जगह से उनके लिए दरवाजे बन्द हैं। यह बात गौर करने लायक है कि

जिनका अपना देश ही उनका दुश्मन बन जाये तो उन्हें कहाँ शरण मिल सकती है? किस जमीन को वे अपनी जमीन कह सकते हैं? यानी आज भी जमीन का सवाल एक अहम सवाल है, चाहे वह मरने के बाद दफनाने के लिए दो गज जमीन की ही बात क्यों न हो!

इस्लाम का हौवा पूरी दुनिया के सिर पर प्रेत की तरह काबिज कर दिया गया है जबकि इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि दुनिया के स्तर पर इस्लाम ही एक ऐसी कौम है जिसे 21 वीं सदी में सबसे अधिक सताया गया है। ईराक, अफगानिस्तान, सीरिया, इंडोनेशिया, मिश्र, तुर्की, पाकिस्तान और सऊदी अरब तो ऐसे देशों के नमूने हैं ही जहाँ अमरीका की शह पर मुस्लिम शासकों और धार्मिक उलेमाओं ने इस्लामी जनता पर कहर ढाया है। लेकिन गैर-इस्लामी और धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र भी अब इस मामले में पीछे नहीं हैं। इन सबके बावजूद पश्चिमी मीडिया ने इस्लाम की ऐसी छवि गढ़ी है कि उसके अनुयायी आतंकवादी की तरह नजर आयें। दुनिया भर में इस्लाम का हौवा किस कदर लोगों के दिलोदिमाग पर सवार है, इसका अन्दाजा केवल एक उदाहरण से ही लग जाता है। ब्यूटी क्वीन श्वे इन सी ने एक वीडियो क्लिप इन्टरनेट पर पोस्ट किया, जिसमें उसने अशान्ति के लिए उन रोहिंग्या मुसलमानों को ही दोषी ठहराया है, जो खुद ही पीड़ित हैं। दुनिया भर की मुस्लिम जनता पर कहर ढाने के लिए मुस्लिम आतंकवाद को एक बहाने के तौर पर इस्तेमाल किया गया है। भारत और म्यांमार में भी ऐसी ही नफरत फैलायी गयी है, जहाँ की बहुसंख्य जनता क्रमशः हिन्दू और बौद्ध है।

म्यांमार की 90 फीसदी जनता उस बौद्ध धर्म में यकीन रखती है, जिसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने हिंसा को पूरी तरह खारिज किया है। लेकिन इसके बावजूद आज म्यांमार की जनता नस्लवादी हिंसा का साथ क्यों दे रही है? यह सवाल बेचैन कर देने वाला है। कई बार कुछ नेताओं के पास इतनी क्षमता होती है कि वे इतिहास की धारा को मोड़ देते हैं। कभी इतिहास की धारा जन्नत की ओर मोड़ दी जाती है तो कभी इसे जहन्नुम के ओर मोड़ दिया जाता है। जहन्नुम की ओर मोड़ने वाली धारा के प्रवर्तक मुसोलिनी और हिटलर थे। हालाँकि सामयिक तौर पर वे दोनों अपनी धारा के साथ इतिहास के कूड़ेदान में फेंक दिये गये। लेकिन आज नयी विश्व परिस्थिति में जब पूँजीवादी विश्वव्यवस्था संकटग्रस्त है तो उनके प्रेत फिर कब्र से बाहर निकल रहे हैं। दुनियाभर की सरमायादारी उन्हें फिर से खड़ा कर रही है। उन्हें पुरातन परम्परा-विरासत, धन-दौलत और सेना-सत्ता के माध्यम से फिर से जिन्दा करने की कोशिश जारी है। ऐसा ही एक प्रेत "अशीन विराथु" म्यांमार में बौद्धों का मसीहा बनता जा रहा है। विराथु कट्टरपंथी बौद्ध भिक्षु और धुर साम्प्रदायिक नेता है। वह जहाँ भी जाता है, अपने ही देश के मुस्लिम अल्पसंख्यकों के खिलाफ जहर उगलता है। 2015 में इसने म्यांमार भेजी गयी संयुक्त राष्ट्र की विशेष प्रतिनिधि "यांग ली" को 'कुतिया' और 'वेश्या' कहा था। जो स्वाभाविक तौर पर फासीवादियों की चिर-परिचित और आजमायी हुई भाषा का ही एक रूप है। म्यांमार के समाज को आग में झोंकने और संयुक्त राष्ट्र को भद्दी गाली देने के बावजूद, अगर उस पर कोई कार्रवाई नहीं हो रही है तो इससे साफ है कि आज मानवाधिकार के मामले में संयुक्त राष्ट्र एक नख-दन्त विहीन संस्था बन गया है। अब यह अमरीका के हितों को आगे बढ़ाने वाली संस्था भर रहा गया है। इससे अलग आज दुनिया भर में शान्ति स्थापना के लक्ष्य को आगे बढ़ाने में उसका योगदान रत्ती भर भी नहीं है। बाद में दुनिया की इन्साफ-पसन्द जनता के दबाव में संयुक्त राष्ट्र को यह मानना पड़ा कि म्यांमार में हो रहा नरसंहार मानवता के खिलाफ है।

म्यांमार में अकेले रोहिंग्या मुसलमानों को ही नहीं उजाड़ा जा रहा है। म्यांमार सेना रखाइन से अलग राज्यों में बौद्ध और ईसाई जनता पर भी कहर ढा रही है। 1960 से ही कचीन राज्य में कचीन स्वतन्त्रता संगठन और म्यांमार सेना के बीच जंग जारी है। 2011 के बाद से सेना के हमलों में नये उभार के चलते लगभग एक लाख कचीन निवासी शरणार्थी शिविर में धकेल दिये गये हैं। यहाँ 2011 में आर्थिक सुधार तेज होने के बाद भारी विदेशी निवेश आमंत्रित करने के लिए अनुकूल माहौल बनाया गया। इसके लिए सभी धर्मों और जातियों के लोगों को उनकी जमीनों से उजाड़ा जा रहा है, ताकि प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करके उन्हें विदेशी निवेशकों को बेचा जा सके। इन विदेशी निवेशकों में चीन की कम्पनियाँ सबसे आगे है। रखाइन में प्राकृतिक गैस का बहुत बड़ा भण्डार है। इसी की लूट के लिए ये सारा खेल चल रहा है।

इस संकट के मामले में भारत सरकार का रवैया बेहद गैर जिम्मेदाराना और मानवताविरोधी है। पहली बात यह है कि भारत सरकार ने म्यांमार संकट को मुस्लिम धर्म से जोड़कर इसे साम्प्रदायिक रंग देने की कोशिश की है। जबकि असलियत यह नहीं है, सेना ने वहाँ सभी धर्मों की जनता पर हमले किये हैं। दूसरी बात यह है कि शरणागत की रक्षा करने वाले इस देश में कई व्यक्तियों और संस्थाओं ने रोहिंग्या मुसलमानों के उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठायी और उन्हें शरण देने की माँग की। लेकिन इन सबके बावजूद भारत सरकार इस पीड़ित समुदाय की तुलना आतंकवादियों से करने में नहीं चूक रही है। भारत सरकार ने रोहिंग्या मुस्लिम शरणार्थियों के बारे में कहा कि वे देश की सुरक्षा के लिए खतरा हैं। इस पर सर्वोच्च न्यायालय ने सरकार को फटकार लगायी। एक बार फिर न्यायालय ने पीड़ित समुदाय का पक्ष लिया। अपना देश और अपनी जमीन से खदेड़े हुए जान बचाकर भागे लोग भला किस तरह से आतंकवादी हैं? जिनके गाँव के गाँव जला डाले गये-- दूधमुँहे बच्चे, बीमार बुजुर्ग और

गर्भवती महिलाएँ क्या भारत की सुरक्षा के लिए खतरा हैं? इन सबके बावजूद बीएसएफ ने भारत-म्यांमार की सीमा पर 50 स्थानों को चिन्हित करके चौकसी बढ़ा दी है ताकि यह पीड़ित समुदाय मदद की गुहार लगाता भारत न आ जाये।

वैसे म्यांमार भी कोई लोकतांत्रिक देश नहीं रहा है। 1962 से 2011 तक म्यांमार सैनिक तानाशाही के जुल्मों से कराह रहा था। विरोध की हर आवाज को दबा दिया जाता था। सैन्य शासन ने वहाँ साम्प्रदायिकता को लगातार बढ़ावा दिया। बौद्धों और अल्पसंख्यक रोहिंग्या मुसलमानों के बीच नफरत के बीज बोये गये। इसी का नतीजा था कि रखाइन प्रान्त में दोनों समुदायों में साम्प्रदायिक तनाव बढ़ता गया और इससे छोटे-मोटी झड़पें बड़े दंगों में तब्दील होती गयी। 2009 में जब सेना ने रोहिंग्या मुसलमानों को म्यांमार से खदेड़ दिया तो वे थाईलैंड की ओर शरण लेने गये। वहाँ से भी उन्हें वापस भेज दिया गया। काफी संख्या में उन्हें इंडोनेशिया के समुद्र तट पर नावों से बचाया गया। उन दिनों म्यांमार के हालात बहुत खराब थे। म्यांमार की सरकार ने अल्पसंख्यकों पर हमले तेज कर दिये थे। जून 2012 में 200 रोहिंग्या मुसलमानों को मार दिया गया। इसी तरह 2013-14 में साम्प्रदायिक हिंसा के चलते बड़ी संख्या में महिलाओं और बच्चों समेत पुरुष मार दिये गये। रोहिंग्या मुसलमान म्यांमार के सबसे गरीब समुदायों में से एक हैं जो मेहनत-मजदूरी करके अपना जीवन-यापन करते हैं। रोहिंग्या के ऊपर हो रहे अन्याय से लड़ने के लिए कुछ मुस्लिम नौजवानों ने 'अराकन रोहिंग्या साल्वेशन आर्मी' बनायी थी। इसने पुलिस के कुछ ठिकानों पर हमले भी किये थे। हालाँकि यह कुछ खास कर नहीं पायी लेकिन म्यांमार सरकार को बहाना मिल गया, जिसकी मुसलमान समूह पर हमले के लिए उसे जरूरत थी। तथाकथित सरकार इन्हीं आतंकवादियों से लड़ने के नाम पर जिनका आज कोई वजूद नहीं, रोहिंग्याओं को उजाड़ रही है।

सैन्य शासन के खूनी दौर में भी आंग सान सू की ने वहाँ साहस के साथ लोकतंत्र की आवाज उठायी थी, जिसके लिए सरकार ने उन्हें नजरबन्द कर दिया था। उन्हें शान्ति का नोबेल पुरस्कार भी दिया गया। उनके सत्ता में आने के बाद ऐसा लगा कि म्यांमार का जंगल राज खत्म हो गया है और अब वहाँ लोकतंत्र का पौधा उगेगा। लेकिन उदारीकरण के इस दौर की कुछ ऐसी खास पहचान बन गयी है कि जो नेता विपक्ष में रहकर जनता के विकास की बातें करते हैं, वे ही सत्ता में आने के बाद अपने सभी सिद्धान्तों को ताक पर रख देते हैं और जनता पर जुल्म ढाने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते हैं। आंग सान सू की के मामले में भी ऐसा ही हुआ। आज वह रोहिंग्या मुसलमानों के हिंसक दमन में सत्ता के साथ बेशर्मी से खड़ी हैं। हजारों लोगों ने नोबेल कमिटी को पत्र लिखकर यह माँग रखी कि उनसे नोबेल पुरस्कार छीन लिया जाये। हालाँकि नोबेल कमिटी ने इसे अस्वीकार कर दिया है, जिसके बाद जाहिर है कि नोबेल पुरस्कार की महत्ता गिरनी ही थी। आज इस विश्व व्यवस्था की यह हकीकत है कि धरती दिन-ब-दिन एक अन्यायपूर्ण जगह में तब्दील होती जा रही है। यहाँ न्याय पाने की उम्मीद बेमानी होती जा रही हैं। लगभग सभी देशों की सरकारें लुटेरों के साथ खड़ी हैं। ऐसी स्थिति में रखाइन के पीड़ित रोहिंग्या मुसलमानों और हिन्दुओं तथा कचीन के बौद्धों और ईसाइयों को क्या कोई सहारा मिल पायेगा? यह अभी तक एक अनुत्तरित सवाल है।

रोहिंग्या पर सुप्रीम कोर्ट

देश में अवैध रूप से रह रहे रोहिंग्या मुसलमानों के मुद्दे पर शुक्रवार को सुप्रीम कोर्ट ने केन्द्र सरकार को कहा है कि वह अगली सुनवाई तक कोई कार्रवाई ना करे और ना ही रोहिंग्या को वापस भेजे। अगली सुनवाई 21 नवम्बर को होगी।

समाचार एजेंसी एएनआई के मुताबिक, इस दौरान सुप्रीम कोर्ट ने कहा, "हमें एक सन्तुलन बनाना होगा यह एक साधारण मामला नहीं है इस मुद्दे में कई लोगों के मानवाधिकार भी शामिल हैं।" कोर्ट ने कहा कि देश की सुरक्षा, आर्थिक हितों की रक्षा जरूरी है। लेकिन इसे मानवता के आधार से भी देखना चाहिए। हमारा संविधान मानवता के आधार पर बना है।

चीफ जस्टिस दीपक मिश्रा सहित तीन जजों की बेंच रोहिंग्या शरणार्थियों की याचिका पर सुनवाई कर रही है।

रोहिंग्या आखिर जायें तो जायें कहाँ?

--कबीर संजय

बांग्ला लेखक शरतचन्द ने खुद बर्मा में लम्बा वक्त बिताया था। वे वर्ष 1893 में बर्मा गये और वहाँ से 1916 में ही लौटकर भारत आये। इस दौरान उन्होंने रंगून में अलग-अलग नौकरियाँ कीं। उनका प्रसिद्ध उपन्यास पथ के दावेदार भी बर्मा की पृष्ठभूमि में शुरू होता है। ... क्या पता अगर शरतचन्द वहीं बस गये होते तो आज उनके भी वंशजों को ऐसे ही वहाँ से खदेड़ा जा रहा होता और उनके सामने भी यही सवाल होता कि जायें तो जाये कहाँ?

कितना है बदनसीब 'जफर' दफ्न के लिए, दो गज जमीन भी न मिली कू-ए-यार में।' ये शब्द हिन्दुस्तान के आखिरी मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर के हैं। 1857 के गदर को कुचलने के बाद अंग्रेजों ने उन्हें तब के बर्मा और आज के म्यांमार के रंगून में कैद कर दिया था। अपनी जन्मभूमि को याद करते हुए इस बादशाह ने अपनी अन्तिम साँसें वहीं ली थीं। जिस मुल्क में पैदा हुए, वहाँ दो गज जमीन भी नहीं मिल सकी। यह मलाल बहादुरशाह जफर को आखिरी वक्त तक सालता रहा।

हममें से बहुत सारे लोग हैं जिन्हें इतिहास के इस हिस्से की जानकारी है। खासतौर पर इसलिए भी कि हाल ही में हमारे प्रधानमंत्री भी अपने म्यांमार दौरे के बीच बहादुरशाह जफर की कब्र पर गये थे। लेकिन, शायद हममें से बहुत सारे लोगों को इसका पता न हो कि जैसे हमारे बादशाह को म्यांमार की धरती पर दफ्न होना पड़ा था, उसी तरह से बर्मा यानी म्यांमार के राजा को भी हिन्दुस्तान की धरती पर मौत नसीब हुई थी। अंग्रेजों ने बहादुरशाह जफर को हुमायूँ के मकबरे से गिरफ्तार करके भारत से निर्वासित कर दिया। उन्हें रंगून में कैद रखा गया। जबकि, बर्मा के राजा तीबॉ को मांडले स्थित उनके राजमहल से कैद करके उनकी पत्नी और बच्चियों समेत महाराष्ट्र के रत्नागिरी में कैद रखा गया। यहीं पर बर्मा के राजा ने अपनी मातृभूमि की कसक लिए अपनी अन्तिम साँसें लीं। राजा की मौत के कई साल बाद भी रानी और उसकी दो बेटियाँ कहीं जाकर बर्मा लौट सकीं। इस विषय पर अमिताभ घोष ने अपने उपन्यास 'ग्लास हाउस' (शीश महल) में बहुत ही जीवन्त चित्रण किया है।

यह वह दौर था जब ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने चरम पर पहुँचता जा रहा था। दुनिया के हर संसाधन की उसे हवस थी। सभी पर वह अपना कब्जा करना चाहता था। बर्मा में सागवान के जंगल थे। उसकी लकड़ियों की भूख अंग्रेजों को थी। पृथ्वी पर कुछ ही ऐसी जगहें थीं जहाँ पर पेट्रोल प्राकृतिक रूप से धरती से ऐसे रिसने लगता था, जैसे पानी का चश्मा फूटता है। उन जगहों में से कुछेक बर्मा में मौजूद थीं। इन सभी संसाधनों पर कब्जा करने की भूख में ब्रिटेन ने बर्मा को पूरा का पूरा हड़प लिया। उसने वहाँ की पूरी अर्थव्यवस्था को अपने हितों के अनुरूप ढाला। काम करने के लिए खासतौर पर भारतीय मजदूरों की भारी संख्या ले जाकर बर्मा में बसायी गयी। इन मजदूरों में बंगालियों की संख्या सबसे ज्यादा थी। समय के साथ इनमें से कुछ अच्छा-खासा पैसा कमाने वाले बन गये और संसाधनों की लूट में शिरकत करने लगे। लेकिन, इसी कारण से हिन्दुस्तानी लोग बर्मा की स्थानीय आबादी की आँखों में चुभने लगे। इसका एक और कारण यह था कि जब भी बर्मा के लोग विद्रोह करने या अंग्रेजों से लड़ने की कोशिश करते थे तो अंग्रेज विद्रोह को दबाने के लिए हिन्दुस्तानी सिपाहियों का इस्तेमाल करते थे। इससे भी भारतीय लोगों के प्रति बर्मा की स्थानीय आबादी में नफरत का संचार होता था।

यूँ तो बर्मा के रखाइन या अराकान प्रदेश में बंगाली व अन्य भारतीय प्रवासियों का आगमन 15वीं शताब्दी के पहले से माना जाता है। बौद्ध, हिन्दू और इस्लाम धर्म का प्रचार करने के लिए भारतीय प्रायद्वीप से लोग यहाँ पर आते रहे। लेकिन, 17वीं शताब्दी के बाद इसमें खासतौर पर बहुत तेजी आयी। ब्रिटिश साम्राज्यवाद की प्रतीक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने वर्ष 1799 में पहली बार रोहिंग्या समुदाय का नाम अपने रिकार्ड में दर्ज किया था। बाद में बर्मा पर ब्रिटेन का कब्जा होने के बाद यहाँ पर भारतीयों की तादाद काफी हो गयी। अनुमान है कि आज 13 लाख के लगभग रोहिंग्या बर्मा के रखाइन प्रदेश में बसे हुए हैं। अंग्रेजों से लड़ने के क्रम में बर्मा के स्थानीय समुदाय की नफरत हिन्दुस्तानियों के साथ बढ़ती गयी। लेकिन, आजादी के तुरन्त बाद इस समुदाय की हालत आज के जैसी बुरी नहीं हुई। रोहिंग्या लोगों की किस्मत के हिसाब से सबसे खतरनाक वक्त तब आया जब बर्मा की सत्ता पर सेना का कब्जा हो गया। सैन्य शासन ने 1982 के नये नागरिकता कानूनों में रोहिंग्या लोगों को बर्मा का नागरिक मानने से ही इनकार कर दिया। बर्मा के अलग-अलग समुदायों में से एक समुदाय के तौर पर रोहिंग्या लोगों को मान्यता नहीं मिली। तब से ही रोहिंग्या अपनी जमीन से दर-बदर हो गये। सैन्य शासन द्वारा लगातार उन्हें अपने देश से बाहर करने की कोशिश की जा रही है। इसके लिए सामूहिक हत्याकांड, अग्निकांड, सामूहिक बलात्कार और अत्याचार के तमाम अन्य तरीके अपनाये जा रहे हैं। रोहिंग्या लोगों के कुछ धड़ों द्वारा इसका प्रतिकार भी करने की कोशिश की जा रही है। कुछ आतंकी घटनाएँ भी हुईं। लेकिन इसके जवाब में सेना के हमले और क्रूर रूप धारण कर रहे हैं। बर्मा में कुछ

खास बौद्ध भिक्षुओं द्वारा भी रोहिंग्या लोगों के खिलाफ नफरत फैलायी जा रही है। जबकि, चीन में भी कुछ खास बौद्ध समुदाय से इसे समर्थन मिला है।

कभी बर्मा के लोकतंत्र की हसरतों की प्रतीक रहीं, लम्बे समय तक अपने घर पर ही निर्वासित जैसा जीवन बिताने वाली, नोबेल शान्ति पुरस्कार से सम्मानित और फिलहाल बर्मा या म्यांमार की स्टेट काउंसिलर आंग सान सू की पहले तो इस मुद्दे पर कुछ बोलने से ही बचती रहीं। बाद में भी उन्होंने सैन्य कार्रवाइयों को जायज ठहराने की ही कोशिश की। उनके रुख पर दुनिया भर से सवाल उठाये जा रहे हैं और उनके कुछ सम्मान भी वापस लिये गये हैं। संयुक्त राष्ट्र ने भी रोहिंग्या लोगों को सबसे ज्यादा सताया हुआ अल्पसंख्यक समुदाय माना है। संयुक्त राष्ट्र ने म्यांमार सरकार के कृत्य को जनजातीय नरसंहार कहा है। इसमें किसी एक खास समुदाय को ढूँढ-ढूँढ कर खत्म किया जा रहा है। जान बचाने के लिए वे पैदल सीमाएँ पार कर रहे हैं। नावों से समुद्र पार कर रहे हैं। नाव पलटने से वे शार्क और समुद्री मछलियों का शिकार बन रहे हैं। लेकिन अपने घर में आग उगल रहे हथियारों से बचने के लिए वे बस ताबड़तोड़ भाग रहे हैं।

म्यांमार सरकार के अत्याचारों से तंग आकर रोहिंग्या लोग तमाम जगहों पर भाग रहे हैं। माना जाता है कि इसमें से 40 हजार लोग भारत के अलग-अलग हिस्सों में चोरी-छिपे रह रहे हैं। जबकि, बांग्लादेश में पाँच लाख से ज्यादा रोहिंग्या लोग शरण लेने पहुँचे हैं। संयुक्त राष्ट्र द्वारा रोहिंग्या लोगों को राहत पहुँचाने की अपील अन्तरराष्ट्रीय समुदाय से की जा रही है। इस बीच भारत में रोहिंग्या लोगों की संख्या से आन्तरिक खतरे के स्वर भी उठने लगे हैं। वहीं, रोहिंग्या लोगों को भारत में शरण मिले, इसे लेकर सुप्रीम कोर्ट में अपील भी की गयी है। हालाँकि, सरकार ने इस मुद्दे पर हस्तक्षेप नहीं करने का आग्रह सर्वोच्च अदालत से किया है। सरकार का कहना है कि रोहिंग्या लोगों के तार कुछ आतंकी समूहों से जुड़े हो सकते हैं और इससे देश की आन्तरिक सुरक्षा को खतरा हो सकता है। सरकार ने सुप्रीम कोर्ट से कहा है कि रोहिंग्या लोगों को किसी भी कीमत पर भारत में रहने की इजाजत नहीं दी जा सकती। अब इस पर आगे की सुनवाई होनी है। दूसरी ओर, जिस दिन सरकार सुप्रीम कोर्ट में अपना यह पक्ष रख रही थी, उसी दिन सुरक्षा एजेंसियों ने एक व्यक्ति को गिरफ्तार किया। अलकायदा से उसके सम्बन्ध बताये जा रहे हैं। कहा जा रहा है कि वह अलकायदा के लिए रोहिंग्या मुसलमानों की भर्ती करने के लिए आया है। हालाँकि, दिल्ली में रह रहे कई रोहिंग्या मुसलमानों का कहना है कि जिस देश ने उन्हें शरण दी, जिन्दगी दी, वे भला उसके दुश्मन क्यों होंगे। वे किसी भी तरह से बांग्लादेश या म्यांमार लौटने के लिए तैयार नहीं है। कम से कम यहाँ कब्र तो नसीब होगी। म्यांमार में तो उसके भी हालात नहीं है। कुछ ऐसा ही वे कहते हैं।

रोहिंग्या मुद्दे ने देश में एक तरह की नयी बहस ही पैदा कर दी है। इसमें अपने-अपने हितों के अनुसार राजनीतिक दलों द्वारा बयानबाजी की जा रही है। एक राजनीतिक पार्टी के तौर पर भाजपा जहाँ रोहिंग्या लोगों को भारत में शरण दिये जाने का विरोध कर रही है। वहीं सुप्रीम कोर्ट में सरकार द्वारा भी उसका यही रुख रखा जा रहा है। हालाँकि, संयुक्त राष्ट्र के अभियान में शामिल होते हुए भारत की ओर से रोहिंग्या लोगों के लिए राहत सामग्री भी बांग्लादेश में भिजवायी गयी है। बांग्लादेश ने फिलहाल रोहिंग्या लोगों को एक निर्जन टापू पर जगह दी है। अनुमान है कि लगभग पाँच लाख रोहिंग्या भागकर बांग्लादेश पहुँच चुके हैं। बर्मा अपने नागरिकों को वापस ले, इसके भी प्रयास बांग्लादेश की ओर से किये जा रहे हैं। हालाँकि, बात बनती नहीं दिख रही है।

लेकिन इस घटनाक्रम के बीच इन सवालों का जवाब किसी के पास नहीं है कि आखिर भारत पहुँचे रोहिंग्या लोग जायेंगे कहाँ। जिस जगह पर रोहिंग्या लोगों के पूर्वज सौ-दो सौ और तीन सौ सालों से बसे हुए थे, वहाँ की सरकार ने तो उनकी नागरिकता ही खारिज कर दी। अब कौन सा देश उन्हें अपनी नागरिकता देगा। वे कहाँ रहेंगे। वे किस देश के नागरिक हैं। भारत अगर अपने देश से उन्हें निकालता भी है तो वे जायेंगे कहाँ। भारत भी आखिर उन्हें कहाँ भेज पायेगा। ये कुछ सवाल ऐसे हैं जिन पर अभी सोचा जाना बाकी है। हालाँकि, इस बीच इतना जरूर कहा जा सकता है कि एक इनसानी समुदाय के ऊपर जिस तरह से जुल्म किये जा रहे हैं, उस पर जितनी संवेदनशीलता से सोचा और मुखर होकर विरोध किया जाना चाहिए, उसका सिरे से अभाव दिख रहा है। खासतौर पर भारत जैसे बड़े देश को चाहिए था कि वह अपने नागरिकों पर ही जुल्म करने वाले म्यांमार पर ऐसा नहीं करने का दबाव डालता, लेकिन इस मुद्दे पर भारत समेत तमाम देशों ने चुप्पी ही साधी हुई है।

अगर भारत सरकार अपने देश से रोहिंग्या लोगों को निकालने की कोशिश करती है, जैसा कि वह कह भी रही है, तो सवाल यह भी है कि आखिर उन्हें भेजा कहाँ जायेगा। म्यांमार जाने के लिए वे तैयार भी नहीं हैं और म्यांमार उन्हें अपना नागरिक मानता नहीं है, इसलिए वे शायद ही दोबारा रोहिंग्या लोगों को अपने यहाँ आने दे। तो फिर भारत में आ बसे इन 40 हजार लोगों का आखिर भविष्य क्या है। अवैध अप्रवासन के चलते क्या इन्हें जेल में बन्द किया जा सकता है। या इतने लोगों की हत्या का दोष अपने सिर लिया जा सकता है। रोहिंग्या लोगों के सवाल को सिर्फ मुस्लिम धर्म तक सीमित कर देना भी इस समस्या को और जटिल कर रहा है। रोहिंग्या में हिन्दू भी हैं और मुस्लिम भी। दोनों ही जुल्मोसितम का शिकार हो रहे हैं। जरूरत तो इस बात की है कि विश्व समुदाय की तरफ से बर्मा प्रशासन पर दबाव डाला जाता और उसे रोहिंग्या समुदाय के लोगों को अपना नागरिक मानने पर बाध्य किया जाता। बर्मा में शान्ति बहाल होती और रोहिंग्या लोगों को अपनी जान-माल का भरोसा होता तो उन्हें वापस लौटने के लिए मनाया भी जा सकता था। आखिर जिनके पूर्वज उसी धरती में दफन हैं वे उस जमीन के नागरिक नहीं होंगे तो कहाँ के होंगे। लेकिन, इस ज्वलंत मुद्दे पर ऐसा रुख फिलहाल तो कम ही दिखाया जा रहा है।

एक ही मालिक के दो गुलामों के इतिहास का ढेर सारा हिस्सा, उसकी त्रासदी साझी हो जाती है। अंग्रेजी हुकूमत के अन्तर्गत भारत और बर्मा के इतिहास में ऐसे ही बहुत कुछ साझा सा हो गया। अंग्रेजी हुकूमत भारत के अलग-अलग हिस्सों की तरह बर्मा को भी

अपने विभिन्न प्रान्तों जैसा ही समझती थी। इसी के चलते भारत के अलग-अलग हिस्से से तमाम लोग बर्मा ऐसे ही जाते थे जैसे कि वे देश के किसी अन्य प्रान्त में जाते रहे हों। यह आना-जाना कितना प्रचलन में था, इसका इजहार पुराने फिल्मी गीत की पंक्तियों में मिलता है-- "मेरे पिया गये रंगून, वहाँ से किया है टेलीफून।" भारतीय स्त्री के मन को शायद सबसे ज्यादा संवेदनशीलता से अभिव्यक्त करने वाले बांग्ला लेखक शरतचन्द ने खुद बर्मा में लम्बा वक्त बिताया था। वे वर्ष 1893 में बर्मा गये और वहाँ से 1916 में ही लौटकर भारत आये। इस दौरान उन्होंने रंगून में अलग-अलग नौकरियाँ कीं। शरतचन्द का प्रसिद्ध उपन्यास पाथेर दाबी (पथ के दावेदार) भी बर्मा की पृष्ठभूमि में शुरू होता है। उपन्यास के प्रमुख पात्रों में से एक अपूर्व रंगून में एक ऐसी बेंच पर बैठ जाता है जो कि गोरे अंग्रेजों के लिए निर्धारित थी। खुद अंग्रेजी चाल-ढाल में रचा-बसा अपूर्व इस पर बैठने को अपना हक समझ बैठता है। गोरे अंग्रेज उसे उस बेंच से उठाकर फेंक देते हैं। तब कहीं जाकर उसे अंग्रेजी शासन के क्रूर और नस्लीय चरित्र का अहसास होता है। यही अपमान बाद में उसे एक क्रान्तिकारी संगठन से जुड़ाव की तरफ ले जाता है। कहने का मतलब यह है कि उस समय बर्मा में आवागमन इतना कठिन नहीं था। शरतचन्द के उपन्यास श्रीकांत का काफी हिस्सा बर्मा में बीतता है। शरतचन्द के जीवन पर लिखी किताब आवारा मसीहा में भी बर्मा के समाज का काफी वर्णन मिलता है।

क्या पता अगर शरतचन्द वहीं बस गये होते तो आज उनके भी वंशजों को ऐसे ही वहाँ से खदेड़ा जा रहा होता और उनके सामने भी यही सवाल होता कि जायें तो जाये कहाँ?

हिन्दुत्ववादी सम्पादक का बयान

हिन्दुत्ववादी राष्ट्रवादी सम्पादक हरिशंकर व्यास ने 15 अक्टूबर को अपने अखबार नया इंडिया में लिखा है--

"ढाई लोगों के वामन अवतार ने ढाई कदम में पूरे भारत को माप अपनी ढाई गज की जो दुनिया बना ली है, उसमें अम्बानी, अडानी, बिड़ला, जैन, अग्रवाल, गुप्ता याकि वे धनपति और बड़े मीडिया मालिक जरूर मतलब रखते हैं, जिनकी दुनिया क्रोनी पूँजीवाद से रंगीन है और जो अपने रंगों की हाकिम के कहे अनुसार उठक-बैठक कराते रहते हैं।

"आज का अंधेरा हम सवा सौ करोड़ लोगों की बीमारी की असलियत लिए हुए है। ढाई लोगों के वामन अवतार ने लोकतंत्र को जैसे नचाया है, रौंदा है, मीडिया को गुलाम बना उसकी विश्वसनीयता को जैसे बरबाद किया है - वह कई मायनों में पूरे समाज, सभी संस्थाओं की बरबादी का प्रतिनिधि भी है। तभी तो यह नौबत आई जो सुप्रीम कोर्ट के जजों को कहना पड़ा कि यह न कहा करें कि फलां जज सरकारपरस्त है और फलां नहीं!

"अदालत हो, एनजीओ हो, मीडिया हो, कारोबार हो, भाजपा हो, भाजपा का मार्गदर्शक मंडल हो, संघ परिवार हो या विपक्ष सबका अस्तित्व ढाई लोगों के ढाई कदमों वाले 'न्यू इंडिया' के तले बंधक है!

"आडवाणी, जोशी जैसे चेहरे रोते हुए तो मीडिया रेंगता हुआ। आडवाणी ने इमरजेंसी में मीडिया पर कटाक्ष करते हुए कहा था कि इंदिरा गांधी ने झुकने के लिए कहा था मगर आप रेंगने लगे! वहीं आडवाणी आज खुद के, खुद की बनाई पार्टी और संघ परिवार या पूरे देश के रेंगने से भी अधिक बुरी दशा के बावजूद ऊफ तक नहीं निकाल पा रहे हैं।

"सोचें, क्या हाल है! हिन्दू और गर्व से कहो हम हिन्दू हैं (याद है आडवाणी का वह वक्त), उसका राष्ट्रवाद इतना हिजड़ा होगा यह अपन ने सपने में नहीं सोचा था। और यह मेरा निचोड़ है जो 40 साल से हिन्दू की बात करता रहा है! मैं हिन्दू राष्ट्रवादी रहा हूँ। इसमें मैं 'नया इंडिया' का वह ख्याल लिए हुए था कि यदि लोकतंत्र ने लिबरल, सेकुलर नेहरूवादी धारा को मौका दिया है तो हिन्दू हित की बात, दक्षिणपंथ, मुसलमान को धर्म के दड़बे से बाहर निकाल उन्हें आधुनिक बनवाने की धारा का भी सत्ता में स्थान बनना चाहिए।

"आप सोच नहीं सकते हैं कि नरेंद्र मोदी, और उनके प्रधानमंत्री दफ्तर ने साढ़े तीन सालों में मीडिया को मारने, खत्म करने के लिए दिन-रात कैसे-कैसे उपाय किए हैं। एक-एक खबर को मॉनिटर करते हैं। मालिकों को बुला कर हड़काते हैं। धमकियाँ देते हैं।

"जैसे गली का दादा अपनी दादागिरी, तूती बनवाने के लिए दस तरह की तिकड़में सोचता है, उसी अंदाज में नरेंद्र मोदी और उनके प्रधानमंत्री दफ्तर ने भारत सरकार की विज्ञापन एजेंसी डीएवीपी के जरिए हर अखबार को परेशान किया ताकि खत्म हों या समर्पण हो। सैकड़ों टीवी चौनलों, अखबारों की इम्पैनलिंग बन्द करवाई।

"इधर से नहीं तो उधर से और उधर से नहीं तो इधर के दस तरह के प्रपंचों में छोटे-छोटे प्रकाशकों-सम्पादकों पर यह साबित करने का शिकंजा कसा कि तुम लोग चोर हो। इसलिए तुम लोगों को जीने का अधिकार नहीं और यदि जिन्दा रहना है तो बोलो जय हो मोदी! जय हो अमित शाह! जय हो अरूण जेटली!

"और इस बात पर सिर्फ मीडिया के संदर्भ में ही न विचार करें! लोकतंत्र की तमाम संस्थाओं को, लोगों को कथित 'न्यू इंडिया' में ऐसे ही हैंडल किया जा रहा है। ढाई लोगों की सत्ता के चश्मे में आडवाणी हों या हरिशंकर व्यास या सिर्दाथ वरदराजन, भाजपा का कोई मुख्यमंत्री या मोहन भागवत तक सब इसलिए एक जैसे हैं कि सभी 'न्यू इंडिया' की प्रयोगशाला में महज पात्र हैं, जिन्हें भेड़, चूहे के अलग-अलग परीक्षणों से 'न्यू इंडिया' लायक बनाना है। ..."

(आभार--ओम थानवी)

डोकलाम में तनाव

भारत की भूटान नीति और चीन का भय

--आनन्द स्वरूप वर्मा

(इस लेख के लिखे जाने के लगभग पाँच हफ्ते बाद 28 अगस्त को भारत चीन के बीच डोकलाम पठार में तनाव खत्म करने पर सहमति हो गयी। चीन ने खास तौर से ब्रिक्स की एकता को बरकरार रखने के दूरगामी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए यथास्थिति बनाये रखने पर सहमती दी। यह लेख भारत-भूटान सम्बन्धों पर एक तथ्यपूर्ण और बेबाक नजरिया प्रस्तुत करता है।)

अब से चार वर्ष पूर्व 2013 में भूटान की राजधानी थिंपू में दक्षिण एशिया के देशों का एक साहित्यिक समारोह हुआ था जिसमें सांस्कृतिक क्षेत्र के बहुत सारे लोग इकट्ठा हुए थे। 'अतीत का आइना' (दि मिरर ऑफ दि पास्ट) शीर्षक सत्र में डॉ। कर्मा फुंत्सो ने भारत और भूटान के सम्बन्धों के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही थी। डॉ।कर्मा फुंत्सो ''हिस्ट्री ऑफ भूटान'' के लेखक हैं और एक इतिहासकार के रूप में उनकी काफी ख्याति है। उन्होंने भारत के साथ भूटान की मैत्री को महत्त्व देते हुए कहा कि ''कभी-कभी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ हो जाती हैं जैसी कि अतीत में हुईं।'' उनका संकेत कुछ ही दिनों पूर्व हुए चुनाव से पहले भारत द्वारा भूटान को दी जाने वाली सब्सिडी बन्द कर देने से था। उन्होंने आगे कहा कि ''शायद भूटान के लोग हमारी स्थानीय राजनीति में भारत के हस्तक्षेप को पसन्द नहीं करते लेकिन अपने निजी हितों के कारण राज्य गलतियाँ करते रहते हैं। उनके इस कदम से दोस्ताना सम्बन्धों को नुकसान पहुँचता है।'' अपने इसी वक्तव्य में उन्होंने यह भी कहा था कि भारत के ऊपर अगर हमारी आर्थिक निर्भरता बनी रही तो कभी यह मैत्री बराबरी के स्तर की नहीं हो सकती। उन्होंने भूटान के लोगों को सुझाव दिया कि वे भारत से कुछ भी लेते समय बहुत सतर्क रहें।

डॉ। कर्मा ने ये बातें भूटान के चुनाव की पृष्ठभूमि में कहीं थी। हमारे लिए यह जानना जरूरी है कि उस चुनाव के मौके पर ऐसा क्या हुआ था जिसने भूटान की जनता को काफी उद्वेलित कर दिया था। 13 जुलाई 2013 को वहाँ सम्पन्न दूसरे आम चुनाव में प्रमुख विपक्षी पार्टी पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (पीडीपी) ने उस समय की सत्तारूढ़ ड्रुक फेनसुम सोंगपा (डीपीटी) को हराकर सत्ता पर कब्जा कर लिया। पीडीपी को 32 और डीपीटी को 15 सीट मिली। इससे पहले 31 मई को हुए प्राथमिक चुनाव में डीपीटी को 33 और पीडीपी को 12 सीटों पर सफलता मिली थी। आश्चर्य की बात है कि 31 मई से 13 जुलाई के बीच यानी महज डेढ़ महीने के अन्दर ऐसा क्या हो गया जिससे डीपीटी अपना जनाधार खो बैठी और पीडीपी को कामयाबी मिल गयी।

दरअसल उस वर्ष जुलाई के प्रथम सप्ताह में भारत सरकार ने किरोसिन तेल और कुकिंग गैस पर भूटान को दी जाने वाली सब्सिडी पर रोक लगा दी। यह रोक भारत सरकार के विदेश मंत्रालय के निर्देश पर लगायी गयी। डीपीटी के नेता और तत्कालीन प्रधानमंत्री जिग्मे थिनले से भारत सरकार नाराज चल रही थी। भारत सरकार का मानना था कि तत्कालीन प्रधानमंत्री थिनले मनमाने ढंग से विदेश नीति का संचालन कर रहे हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि 1949 की 'भारत-भूटान मैत्री सन्धि' में इस बात का प्रावधान था कि भूटान अपनी विदेश नीति भारत की सलाह पर संचालित करेगा। लेकिन 2007 में सन्धि के नवीकरण के बाद इस प्रावधान को हटा दिया गया। ऐसी स्थिति में भूटान को इस बात की आजादी थी कि वह अपनी विदेश नीति कैसे संचालित करे। वैसे, अलिखित रूप में ऐसी सारी व्यवस्थाएँ बनी रही जिनसे भूटान में कोई भी सत्ता में क्यों न हो, वह भारत की सलाह के बगैर विदेश नीति नहीं तैयार कर सकता। हुआ यह था कि 2012 में ब्राजील के रियो द जेनेरो में एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन के दौरान प्रधानमंत्री थिनले ने चीन के तत्कालीन प्रधानमंत्री से एक अनौपचारिक भेंट कर ली थी। हालाँकि भारत के अलावा भूटान का दूसरा पड़ोसी चीन ही है तो भी चीनी और भूटानी प्रधानमंत्रियों के बीच यह पहली मुलाकात थी। इस मुलाकात के बाद भारत के रुख में जबर्दस्त तब्दीली आयी और उसे लगा कि भूटान अब नियंत्रण से बाहर हो रहा है। भूटान ने चीन से 15 बसें भी ली थीं और इसे भी भारत ने पसन्द नहीं किया था।

मामला केवल चीन से सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं था। भारत यह नहीं चाहता कि भूटान दुनिया के विभिन्न देशों के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करे। 2008 तक

भूटान के 22 देशों के साथ राजनयिक सम्बन्ध थे जो थिनले के प्रधानमंत्रित्व में बढ़कर 53 तक पहुँच गये। चीन के साथ अब तक भूटान के राजनयिक सम्बन्ध नहीं हैं लेकिन अब भूटान-चीन सीमा विवाद दो दर्जन से अधिक बैठकों के बाद हल हो चुका है इसलिए भारत इस आशंका से भी घबराया हुआ था कि चीन के साथ उसके राजनयिक सम्बन्ध स्थापित हो जायेंगे। भारत की चिन्ता का एक कारण यह भी था कि अगर भारत (सिक्किम)-भूटान-चीन (तिब्बत) के सन्धि स्थल पर स्थित चुंबी घाटी तक जिस दिन चीन अपनी योजना के मुताबिक रेल लाइन बिछा देगा, भूटान की वह मजबूरी समाप्त हो जायेगी जो तीन तरफ से भारत से घिरे होने की वजह से पैदा हुई है। उसे यह बात भी परेशान कर रही थी कि थिनले की डीपीटी को बहुमत प्राप्त होने जा रहा था जिन्हें वह चीन समर्थक मानता था। इसी को ध्यान में रखकर चुनाव की तारीख से महज दो सप्ताह पहले उसने अपनी सब्सिडी बन्द कर दी और इस प्रकार भूटानी जनता को सन्देश दिया कि अगर उसने थिनले को दुबारा जिताया तो उसके सामने गम्भीर संकट पैदा हो सकता है। भारत के इस कदम को भूटान की एक बहुत बड़ी आबादी ने 'बाँह मरोड़ने की कार्रवाई माना'।

भारत के इस कदम पर वहाँ के ब्लॉगों, बेवसाइटों और सोशल मीडिया के विभिन्न रूपों में तीखी प्रतिक्रिया देखने को मिली। भूटान के अत्यंत लोकप्रिय ब्लॉगर और जाने-माने बुद्धिजीवी वांगचा सांगे ने अपने ब्लॉग में लिखा 'भूटान के राष्ट्रीय हितों को भारतीय धुन पर हमेशा नाचते रहने की राजनीति से ऊपर उठना होगा। हम केवल भारत के अच्छे पड़ोसी ही नहीं बल्कि अच्छे और विश्वसनीय मित्र भी हैं। लेकिन इसके साथ यह भी सच है कि हम एक सम्प्रभु राष्ट्र हैं इसलिए भूटान का राष्ट्रीय हित महज भारत को खुश रखने में नहीं होना चाहिए। हमें खुद को भी खुश रखना होगा।' अपने इसी ब्लॉग में उन्होंने यह सवाल उठाया कि चीन के साथ सम्बन्ध रखने के लिए भूटान को क्यों दंडित किया जा रहा है। उन्होंने कहा कि 'कौन सा राष्ट्रीय नेता और कौन सी राष्ट्रीय सरकार अपनी आत्मा किसी दूसरे देश के हाथ गिरवी रख देती है? हम कोई पेड सेक्स वर्कर नहीं हैं जो अपने मालिकों की इच्छा के मुताबिक आँखें मटकायें और अपने नितम्बों को हिलायें।' डॉ। कर्मा ने भी थिंपू के साहित्य समारोह में भारत की नाराजगी का कारण भूटान के चीन से हाथ मिलाने को बताया था।

बहरहाल सब्सिडी बन्द करने का असर यह हुआ कि जनता को भयंकर दिक्कतों से गुजरना पड़ा लिहाजा थिनले की पार्टी डीपीटी चुना हार गयी और मौजूदा प्रधानमंत्री शेरिंग तोबो की पीडीपी को कामयाबी मिली।

उपरोक्त घटनाएँ उस समय की हैं जब हमारे यहाँ केन्द्र में मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली यूपीए की सरकार थी। 2014 में एनडीए की सरकार बनी और नरेन्द्र मोदी प्रधानमंत्री पद पर आसीन हुए। इस सरकार ने उसी नीति को, जो मनमोहन सिंह के ही नहीं बल्कि इंदिरा गांधी के समय से चली आ रही थी और भी ज्यादा आक्रामक ढंग से लागू किया।

पिछले एक डेढ़ महीने से भारत-भूटान-चीन के आपसी सम्बन्धों को लेकर जो जटिलता पैदा हुई है उसके मूल में भारत का वह भय है कि भूटान कहीं हमारे हाथ से निकल कर चीन के करीब न पहुँच जाये। आज स्थिति यह हो गयी है कि चुम्बी घाटी वाले इलाके में यानी डोकलाम में अब चीन और भारत के सैनिक आमने-सामने हैं और दोनों देशों के राजनेताओं की मामूली सी कूटनीतिक चूक एक युद्ध का रूप ले सकती है। चीन उस क्षेत्र में सड़क बनाना चाहता है जो उसका ही क्षेत्र है लेकिन भारत लगातार भूटान पर यह दबाव डाल रहा है कि वह उस क्षेत्र पर दावा करे और चीन को सड़क बनाने से रोके। भूटान को इससे दूरगामी दृष्टि से फायदा ही है लेकिन भारत इसे अपनी सुरक्षा के लिए खतरा मानता है। अब दिक्कत यह है कि सिक्किम (भारत) और तिब्बत (चीन) के बीच डोकलाम में अन्तरराष्ट्रीय सीमा का बहुत पहले निर्धारण हो चुका है और इसमें कोई विवाद नहीं है। 1980 के दशक में भूटान और चीन के बीच बातचीत के 24 दौर चले और दोनों देशों के बीच भी सीमा का निर्धारण लगभग पूरा है। यह बात अलग है कि फिलहाल जिस इलाके को विवाद का रूप दिया गया है उसमें चीन भूटान के हिस्से की कुछ सौ गज जमीन चाहता है और बदले में इससे भी ज्यादा जमीन किसी दूसरे इलाके में देने के लिए तैयार है। चीन के इस प्रस्ताव से भूटान को भी कोई आपत्ति नहीं है लेकिन भारत के दबाव में उसने इस प्रस्ताव को मानने पर अभी तक अपनी सहमति नहीं दी है। अगर चीन को भूटान से यह अतिरिक्त जमीन नहीं भी मिलती है तो भी अभी जो जमीन है वह बिना किसी विवाद के चीन की ही जमीन है। भारत का मानना है कि अगर वहाँ चीन ने कोई निर्माण किया तो इससे सिक्किम के निकट होने की वजह से भारत की सुरक्षा को खतरा होगा। चीन ने तमाम देशों के राजदूतों को अलग-अलग और सामूहिक तौर पर सभी नक्शों और दस्तावेजों को दिखाते हुए यह समझाने की कोशिश की है कि यह जगह निर्विवाद रूप से उसकी है। अब ऐसी स्थिति में भारत के सामने एक गम्भीर समस्या पैदा हो गयी है। उसने अपने सैनिक सीमा पर भारतीय क्षेत्र में यानी सिक्किम के पास तैनात कर दिये हैं और भूटान में भी भारतीय सैनिक चीन की तरफ अपनी बन्दूकों का निशाना साधे तैयार बैठे हैं। स्मरणीय है कि भूटान की शाही सेना को सैनिक प्रशिक्षण देने के नाम पर पिछले कई दशकों से वहाँ भारतीय सेना मौजूद है।

चीन और भारत दोनों देशों में उच्च राजनयिक स्तर पर हलचल दिखायी दे रही है। तमाम विशेषज्ञों का मानना है कि

समस्या का समाधान बातचीत के जरिये सम्भव है क्योंकि अगर युद्ध जैसी स्थिति ने तीव्र रूप लिया तो इससे दोनों देशों को नुकसान होगा। शुरुआती चरण में रक्षा मंत्रालय का कार्यभार सम्भाल रहे अरुण जेटली ने जो बयान दिया कि ''यह 1962 का भारत नहीं है'' और फिर जवाब में चीन ने अपने सरकारी मुखपत्र में जो भड़काऊ लेख प्रकाशित किये उससे स्थिति काफी विस्फोटक हो गयी थी लेकिन समूचे मामले पर जो अन्तरराष्ट्रीय प्रतिक्रिया दिखायी दे रही है उससे भारत को एहसास होने लगा है कि अगर तनाव ने युद्ध का रूप लिया तों कहीं भारत अलगाव में न पड़ जाये और यह नुकसानदेह न साबित हो।

26 जुलाई को राष्ट्रीय सुरक्षा सलाहकार अजित डोभाल जी-20 के सम्मेलन में भाग लेने चीन जा रहे हैं और हो सकता है कि वहाँ सीमा पर मौजूद तनाव के बारे में कुछ ठोस बातचीत हो और इससे उबरने का कोई रास्ता निकले। भारत और चीन दोनों ने अगर इसे प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया तो यह समूचे दक्षिण एशिया के लिए एक खतरनाक स्थिति को जन्म देगा।

1. इस इलाके को भूटान 'डोकलाम', भारत 'डोक ला' और चीन 'डोंगलाङ' कहता है।

(19 जुलाई 2017)

जीने के लिए मरना
ये कैसी सआदत है
मरने के लिए जीना
ये कैसी हिमाकत है
अकेले जीओ
एक शमशाद तन की तरह
और मिलकर जीओ
एक बन की तरह
हमने उम्मीद के सहारे
टूटकर यूँ ही जिन्दगी जी है
जिस तरह तुमसे आशिकी की है
--नाजिम हिकमत

डोकलाम और धोखा

--वांग्चा सांगे

(भूटान के प्रमुख बुद्धिजीवी और जाने माने ब्लॉगर वांग्चा सांगे लगातार भारत-भूटान-चीन सम्बन्धों पर लिखते रहे हैं। डोकलाम की घटना के बाद उनके लेखन को भारत तथा अन्य देशों में काफी पढ़ा गया और उन लेखों पर बहसें भी हुईं। हमें डोकलाम के मुद्दे पर भारत और चीन के अखबारों के जरिए वहाँ के राजनीतिक नेताओं के विचारों की जानकारी मिलती रही है लेकिन खुद भूटान का जनमानस इस पर क्या सोचता है इसे हम बिलकुल नहीं जानते। इसी को ध्यान में रखकर हम यहाँ उनकी यह टिप्पणी प्रकाशित कर रहे हैं जो उन्होंने 8 अक्तूबर को अपने ब्लॉग पर लिखी थी।)

भारतीय विदेश सचिव जयशंकर और भारत में अमरीका के कार्यवाहक राजदूत मेरीके लॉस कार्लसन ने अक्टूबर के पहले सप्ताह में संयुक्त रूप से भूटान की यात्रा की। भूटान के सरकारी अखबार 'कुंसेल' ने भूटान नरेश के साथ विदेश सचिव जयशंकर की तस्वीर छापी है लेकिन इस बारे में कोई जानकारी नहीं दी गयी है कि उनकी यात्रा का मकसद क्या था। जयशंकर ने भूटान नरेश के अलावा यहाँ के प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री से भी बातचीत की। जहाँ तक अमरीकी कार्यवाहक राजदूत की यात्रा का सवाल है, भूटान ने इसके बारे में कोई जानकारी नहीं दी है।

इन दोनों लोगों की संयुक्त यात्रा के पीछे अनेक कारण होंगे। लेकिन हम अनुमान लगा सकते हैं कि इसका मुख्य कारण चीन को घेरना होगा। इसका अर्थ विदेशी मामलों के सन्दर्भ में भूटान की आजादी में कटौती करना और इसकी आन्तरिक नीतियों और प्रशासन को सीमित करना है।

भारत एक विशाल जनतांत्रिक देश है और इसलिए भारतीय मीडिया में विदेश सचिव जयशंकर और उनके साथ ही विदेश मंत्रालय में भूटान और नेपाल मामलों के प्रभारी संयुक्त सचिव की यात्रा के बारे में खबरें दिखायी दीं। इन खबरों से यह जानकारी नहीं मिलती है कि भूटान के शीर्ष नेताओं के साथ इन दोनों महानुभावों की किस विषय पर बातचीत हुई। यहाँ हम भूटानवासी केवल अनुमान लगा सकते हैं कि अमरीका और भारत भूटान से क्या चाहते हैं और अपनी इस चाहत के एवज में उन्होंने भूटान को क्या देने का वायदा किया होगा। मैं समझता हूँ कि भारत की ओर से वही पुरानी 'पुचकार और फटकार' की नीति अपनायी गयी होगी। अमरीकी कार्यवाहक राजदूत की यात्रा के बारे में मुझे तब तक जानकारी नहीं मिली जब तक मैंने भारत के अखबारों को नहीं देखा और जब तक मेरी निगाहों से राजदूत द्वारा किया गया ट्वीट नहीं गुजरा। मैं समझ सकता हूँ कि अमरीका ने अपना पुराना 'बिल्ली और चूहे' वाला खेल यहाँ भी दोहराया होगा। उसका प्रस्ताव वही रहा होगा जो तमाम छोटे और कमजोर देशों के सामने उन्हें अपना राजनीतिक खिलौना समझते हुए अमरीका अब तक देता रहा है।

भारत ने जरूर कर्ज की राशि में कुछ राहत देने की बात कही होगी। उसने हाइड्रो पॉवर समझौतों की शर्तों को बेहतर बनाने का लालच दिया होगा, बिजली की बिक्री मूल्य में कुछ सुधार किया होगा और नोटबन्दी

के बाद रॉयल मानिटरी अथॉरिटी (आरएमए) के खजाने में पड़ी पुरानी भारतीय करेंसी को बदलने के मामले में कुछ रियायत दी होगी। बेशक, इस बात की गारंटी तो दी ही होगी कि अभी जो सबसे ज्यादा आज्ञाकारी राजनीतिक पार्टी है वह 2018 तक आराम से शासन कर सके। इसके साथ ही भूटान की राजशाही के प्रति आने वाले दिनों में भी सम्मान बनाये रखने का आश्वासन दिया होगा। इस आश्वासन का स्वरूप वैसा ही होगा जैसा भारत के आर्मी कमांडिंग जनरल ने अपने फेसबुक पर भूटान की यात्रा के बाद लिखा-- 'शासकों को शासन करने में मदद।' उन्होंने यह उक्ति भूटान नरेश की फोटो के साथ अपने फेसबुक पर लगायी। इस बयान को उन्होंने खुद नहीं लिखा बल्कि किसी दूसरे की फेसबुक वाल से लेकर अपनी वाल पर चिपका दिया।

चीन को नीचा दिखाकर अपनी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा को सन्तुष्ट करने के लिए अमरीका और भारत जिस ढिठाई और बर्बरता के साथ हमारे इस छोटे और कमजोर राज्य को निचोड़ने में लगे हैं, वह राजनीतिक तौर पर अत्यंत वीभत्स रूप में हमारे सामने आ रहा है। अपने इस मकसद को पूरा करने के लिए ये लोग भूटान का गला घोंटने पर आमादा हैं। चीन को नीचा दिखाने के काम में भूटान उनके लिए बस एक मोहरा है। वे इस बात की परवाह नहीं कर रहे हैं कि इसका असर भूटान और उसकी जनता पर क्या पड़ेगा। उनके लिए यह अपनी राष्ट्रीय सुविधा को ध्यान में रखते हुए 'इस्तेमाल करो और फेंक दो' वाली नीति के तहत आता है। मैं केवल अपने देवी-देवताओं और बुद्धिमान नेताओं से यह प्रार्थना ही कर सकता हूँ कि उनके अन्दर वह क्षमता पैदा हो जिससे वे राजनीतिक तौर पर बाँह मरोड़ने की ऐसी हरकतों का विरोध कर सकें और अपनी सत्ता को सुरक्षित बनाये रखने के लालच से अपने को बचा सकें। तीसरी दुनिया के देशों के अनेक भ्रष्ट नेताओं की इस कमजोरी का फायदा हमेशा से मजबूत देशों ने उठाया है। देखा जाये तो इन सबके बावजूद इन कमजोर देशों के अधिकांश नेताओं को इन चीजों से सत्ता और वैभव की कोई गारंटी नहीं हासिल हो सकी है।

भारत को इस समय अमरीका और अमरीका के पिछलग्गू जापान का भरपूर समर्थन प्राप्त है। शायद भारत चाहता है कि चीन से भूटान यह कहे कि 'जब तक चीन और भूटान के बीच डोकलाम का मसला बना हुआ है, सीमा के बारे में चीन के साथ भूटान बगैर भारतीय प्रतिनिधि को शामिल किये कोई भी द्विपक्षीय वार्ता न करे।' इस आशय की खबरें भारतीय समाचार माध्यमों में देखने को मिलती हैं। यह एक बहुत ही हास्यास्पद और निरर्थक प्रस्ताव है। क्या भारत ने कभी चीन पर इस बात के लिए दबाव डाला कि डोकलाम के ट्राई जंक्शन में अन्तरराष्ट्रीय सीमा का जिस समय भारत और चीन निर्धारण कर रहे थे उस समय भूटान को भी इसमें शामिल किया जाये?

इस वर्ष चीन के साथ भूटान की सीमा-वार्ता का 25वाँ दौर शुरू होना है। हो सकता है कि भूटान को भारत यह निर्देश दे कि इस बातचीत को तब तक टाल दिया जाय जब तक भारत की शर्तें पूरी नहीं हो जाती। चीन कभी भी भूटान-चीन सीमा समझौते की शर्तें भारत से तय करने के लिए तैयार नहीं होगा। मेरा मानना है कि भारत और अमरीका की इस दादागिरी को भूटान को किसी भी हालत में स्वीकार नहीं करना चाहिए।

ऐसी स्थिति में भविष्य में क्या हो सकता है, इसका हम भूटानवासी महज अनुमान लगा सकते हैं--

1. हो सकता है भूटान-चीन सीमा वार्ता के 25वें दौर के लिए चीन को भूटान आमंत्रित न करे और कोई सीमा समझौता सम्पन्न न हो। ऐसा करके भूटान एक बार फिर भारत और उसके नेताओं के सामने राजनीतिक तौर पर अपनी अधीनस्थ हैसियत की पुष्टि करेगा। पहले भी भूटान ने भारत के कहने पर दक्षिणी भूटान राजमार्ग निर्माण के कार्यक्रम को रद्द किया है और बीबीआइएन (बांग्लादेश, भूटान, इंडिया, नेपाल प्रोजेक्ट) पर हस्ताक्षर किया है। भावी आम चुनाव को ध्यान में रखते हुए भारतीय अधिकारियों से कुछ ऐसे राजनीतिक फैसले का अनुरोध किया जा सकता है जिसका असर सत्तारूढ़ पार्टी के पक्ष में जाये।

2. चीन को इस बात का अच्छी तरह एहसास हो जायेगा कि चीन के प्रति भारत की शत्रुतापूर्ण नीति का साथ अन्ततः भूटान के नेता भी देंगे। इस वर्ष भूटान की सीमा का इस्तेमाल करते हुए भारत ने चीन का अतिक्रमण किया। चीन अब इस बात की इजाजत नहीं देगा कि भविष्य में इसकी पुनरावृत्ति हो।

3. इसे ध्यान में रखते हुए समूची भूटान-चीन सीमा पर चीन अपनी रक्षात्मक स्थिति को मजबूत बनाने में लग जायेगा। अब तक इसकी जो अस्थायी सैनिक चौकियाँ थीं उन्हें स्थायी रूप दे दिया जायेगा और जिन इलाकों में उसकी सेना कभी-कभार गश्त लगाती थी वहाँ उसकी अब निरन्तर मौजूदगी बनी रहेगी। चीन इस बात की हर सावधानी बरतेगा कि भूटान की सीमा से दुबारा भारतीय सेना का अतिक्रमण न हो जैसा डोकलाम में हुआ।

4. भारत चाहता है कि उसकी माउण्टेन ब्रिगेड भूटान की 'हा घाटी' में बनी रहे और अगर भूटान के अधिकारियों ने उसके इस प्रस्ताव को दृढ़ता के साथ ठुकरा दिया तो हो सकता है कि हमें कुछ गम्भीर दुष्परिणाम झेलने पड़ें। वैसी हालत में पश्चिम के हमारे इलाके बहुत मुसीबत में पड़ सकते हैं। यह मैं इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि ऐसी आशंका की झलक भारतीय मीडिया में देखने को मिली है।

5. इस तरह की खबरें सरकारी स्रोतों से ही बाहर आती हैं। इन खबरों से जनता के बीच एक अफवाह फैलती है जिससे चीन और भूटान के सम्बन्धों में दरार पैदा हो सके। चीन के साथ भूटान की जितनी

ही दूरी बढ़ेगी, स्वाभाविक तौर पर उसका लाभ भारत को भूटान को अपने नियंत्रण में लेने में होगा। भूटान और भारत के बीच 2007 में जिस नये रूप में पुरानी सन्धि सम्पन्न हुई उसके शब्दों में भले ही व्यावहारिक तौर पर कोई हेर-फेर न किया जा सके, लेकिन उसे एक निरर्थक दस्तावेज का रूप तो दिया ही जा सकता है। भारत के राजनीतिक नेताओं और सेना के जनरलों ने पहले ही दावा किया है कि 1949 की भूटान-भारत सन्धि का जो संशोधित रूप 2007 में आया उसने भी भूटान को भारत का एक संरक्षित राज्य ही रहने दिया और इस प्रकार भारतीय सेना के पास यह अधिकार है कि वह बगैर भूटान से पूछे उसकी सीमा में प्रवेश कर सके और ऐसा ही उसने डोकलाम में किया। ऐसी स्थिति में चीन के खिलाफ आगे भी भारत भूटानी सीमा का इस्तेमाल कर सकता है।

6. भारत और अमरीका दोनों को पता है कि भूटान-चीन सीमा समझौते में चीन कभी भारत के शामिल होने पर सहमत नहीं होगा। इस तरह की शर्त रखने का एकमात्रा उद्देश्य यह है कि भूटान पूरी तरह भारत के प्रभुत्व के अधीन रहे। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत और अमरीका इस बात की हर कोशिश करेंगे कि भूटान हमेशा के लिए भारत का 'संरक्षित राज्य' बना रहे।

जनता के स्तर पर भूटान के पास यह जानने का कोई तरीका नहीं है कि किस तरह भारत से उठा राजनीतिक तूफान इस देश को प्रभावित कर रहा है। अगर भूटान इस वर्ष चीन के साथ सीमा वार्ता आयोजित करने से इनकार करता है तो यह निश्चित तौर पर भूटान के भविष्य के लिए एक खतरे का संकेत होगा।

(वांग्चासांगे-डॉट-ब्लॉगस्पॉट-डॉट-कॉम से साभार। अनुवाद--आनन्दस्वरूप वर्मा)

गोरखपुर शिशुसंहार : मासूमों की मौत पर पर्दा डालने की नाकाम कोशिश

--सिद्धार्थ

कुछ महीनों के भीतर गोरखपुर दो बार दुनियाभर में सुर्खियाँ बना। पहली बार तब जब अप्रैल में योगी आदित्यनाथ उर्फ अजय सिंह बिष्ट उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बने। देश-विदेश के लोग भौचक्का थे, अरे ये क्या हो गया, कुछ उसी तरह जैसे नरेन्द्र दामोदर मोदी के प्रधानमंत्री बनने पर। दूसरी बार गोरखपुर दुनिया भर में तब चर्चा का विषय बना, जब एक रात में 60 मासूमों की मौत की खबर आयी। कलपती माताएँ, बिलखते परिजनों, मातम में डूबे सगे-सम्बन्धियों की हृदयविदारक तस्वीरें दुनिया भर में पहुँची। देश और दुनिया यह सुनकर हतप्रभ रह गयी कि इन 60 मासूमों में कुछ की मौत का कारण ऑक्सीजन की आपूर्ति बन्द होना था। कोई इस बात पर विश्वास नहीं कर पा रहा था, कुछ चन्द लाख रुपयों के चलते माताओं की गोद सूनी हुईं। गोरखपुर और आस-पास के इलाकों में हाहाकार मच गया। सभी आवाक और सन्न। किसी का दिल मानने को तैयार ही नहीं हो रहा था कि मासूमों की ऑक्सीजन के बिना तड़प-तड़प कर मौत योगी के मुख्यमंत्री रहते हुई है। खासकर वे लोग भी भौचक थे, जो योगी को हिन्दू हृदय-सम्राट मानते हैं। यह सब कुछ तब हुआ, जब 10 अगस्त को मौतों का सिलसिला शुरू होने के एक दिन पहले ही योगी गोरखपुर मेडिकल कॉलेज गये थे, और मेडिकल कॉलेज के प्रबन्ध-तंत्र के साथ बैठक की थी।

मासूमों के खून के फौव्वारों से योगी का गेरूआ वस्त्र भीगकर लाल हो गया और अन्य हिन्दुत्ववादियों पर भी खून के छीटें पड़े। उसके बाद योगी और उसके चाहनेवाले खून के इन छीटों को धोने में लग गये। सबसे पहले योगी के बचाव में उसका एक मंत्री सिद्धार्थनाथ सिंह उतरा, जो पहले भाजपा का राष्ट्रीय सचिव और प्रवक्ता भी रह चुका है। उसने पिछले वर्षों के आँकड़े देकर यह साबित किया कि अगस्त में बच्चों की मौत होती ही है। उसकी इस बेहयाई और घोर अमानवीय वक्तव्य पर भाजपा समर्थकों ने भी दाँतों तले अँगुली दबा ली और अपना सिर शर्म से झुका लिया। बात यहीं नहीं रुकी, बेहयाई और अमानवीयता की सारी हदें पार करते हुए भाजपा के खेवनहार अमित शाह ने यहाँ तक कह दिया कि इतने बड़े देश में ऐसे हादसे होते रहते हैं और यह पहली बार नहीं हुआ है। बात-बात पर ट्वीट करने वाले प्रधानमंत्री इतनी बड़ी घटना पर मौन साधे रहे, आखिरकार लाल किले से संवेदना के दो शब्द बोले।

फिर बारी आयी स्वयं योगी की। वह अपने बचाव में उतरे। पहले तो भोंकार फाड़कर रोये, ऐसा हमारे प्रधानमंत्री भी करते रहते हैं। योगी जी रोने के बाद चिंघाड़े कि मासूम बच्चों की मौत के गुनाहगारों को बख्शा नहीं जायेगा। उनकी चिंघाड़ में दुःख और संवेदनशीलता कम थी और घमंड अधिक था। योगी अपने को बचाने के लिए तरह-तरह की जुगत करते रहे और कर रहे हैं। पहले तो इसी बात से इनकार किया कि ऑक्सीजन की आपूर्ति बाधित हुई थी, फिर सारा दोष प्राचार्य और उनकी बीबी पर मढ़ने की कोशिश की। फिर यह बात सामने आने पर कि राज्य सरकार को ऑक्सीजन के लिए धन मुहैया कराने के लिए 3 बार पत्र लिखे गये, ये

योगी ने उत्तर प्रदेश के कुछ वरिष्ठ अधिकारियों के सिर ठीकरा फोड़ा। कुछ को निलम्बित किया, एफआईआर का आदेश जारी किया। इसी बीच योगी और उनके गिरोह ने अपना आजमाया नुस्खा, मुस्लिम कनेक्शन भी तलाशा। इसके लिए उन्होंने डॉ। काफिल को लक्ष्य बनाया। योगी को बचाने के लिए विपक्ष की साजिश के नुस्खे को आजमाया गया। ऑक्सीजन आपूर्तिकर्ता को अखिलेश का करीबी ठहराया गया।

आइये एक-एक करके तथ्यात्यक तौर पर योगी के पाखण्डपूर्ण रुदन और पूर्वांचल के बच्चों से उनके भावनात्मक लगाव की असलियत की पड़ताल की जाये। बच्चों की मौत पर योगी के घड़ियाली आँसू को सबने देखा और उनकी इस दम्भ भरी घोषणा को सबने सुना कि "मैंने इस मुद्दे (इंसेफेलाइटिस) को संसद से सड़क तक उठाया है। कोई भी मुझसे ज्यादा इस दर्द को नहीं समझ सकता है।" लेकिन योगी के रुदन और उनकी बात की पोल मुख्यमंत्री के रूप में लिया उनका फैसला ही खोल देता है। सपा सरकार में गोरखपुर मेडिकल कॉलेज के लिए 15.5 करोड़ रुपया आवंटित किया गया था, इस बार भाजपा सरकार ने इस आवंटन को घटाकर आधा करके 7.8 करोड़ कर दिया। गोरखपुर ही नहीं, बल्कि चिकित्सकीय उपकरणों की खरीदारी के मद में आवंटित धनराशि को 3 करोड़ से घटाकर 75 लाख कर दिया। इतना ही नहीं पूरे प्रदेश के मेडिकल कॉलेजों के बजट को योगी सरकार ने आधा कर दिया। सभी जानते हैं कि प्रदेश के मेडिकल कॉलेज सरकारी चिकित्सा की रीढ़ हैं, उस रीढ़ को तोड़ने की प्रक्रिया योगी सरकार ने अपने पहले ही बजट में शुरू कर दी।

300 किलोमीटर के घेरे में इंसेफेलाइटिस के शिकार बच्चों के इलाज का एकमात्र केन्द्र गोरखपुर मेडिकल कॉलेज है। न केवल पूर्वांचल बल्कि बिहार के कुछ जिलों और पड़ोसी देश नेपाल से भी बच्चे यहाँ आते हैं। 12 अगस्त को केन्द्रीय चिकित्सा टीम वहाँ गयी थी। इस टीम ने बताया कि गोरखपुर मेडिकल कॉलेज में उसकी क्षमता से 10 गुना अधिक मरीज आते हैं। प्रतिदिन 2 हजार से लेकर 2500 की संख्या में मरीज आते हैं। यहाँ कुल 2 सौ बेड हैं। विशेषज्ञ डॉक्टरों की बड़े पैमाने पर कमी है। इसे सिर्फ इंसेफिलाइटिस वार्ड के सन्दर्भ में देखें तो आईसीयू की एक शिफ्ट में 4 वरिष्ठ डॉक्टरों पर 400 मरीजों की जिम्मेदारी है, यानी हर डॉक्टर पर 100 मरीज। जबकि मानक के अनुसार हर एक डॉक्टर केवल 4 से 6 मरीजों की जिम्मेदारी ही पूरी कर सकता है। इस वार्ड की 28 नर्सों में से मात्र 3 नर्सें अपने काम के लिए प्रशिक्षित हैं। इस वार्ड की स्थिति यह है कि कुल भर्ती होने वाले बच्चों में से आधे 48 घंटे के अन्दर मौत के शिकार हो जाते हैं। कोई भी अन्दाज लगा सकता है कि कितनी गम्भीर हालातों में बच्चे यहाँ आते होंगे। 1978 के बाद से अब तक यहाँ पर इंसेफेलाइटिस से 25 हजार बच्चों की मौत हो चुकी है।

योगी कहते रहते थे कि हमारी सरकार बन जाये, तो हम इस समस्या का समाधान करके दिखा देंगे और सरकार बनते ही उन्होंने गोरखपुर मेडिकल कॉलेज का बजट आधा कर दिया, यही पूर्वांचल के बच्चों और मेडिकल कॉलेज के लिए उनकी सबसे बड़ी सौगात थी। धन, डॉक्टरों, नर्सों और चिकित्सीय उपकरणों के बगैर कैसे उनका इलाज होगा, कैसे उन्हें मौत के मुँह में जाने से बचाया जायेगा? किसी भी आम आदमी ने शायद ही कल्पना की हो कि गेरूआ वस्त्रधारी योगी बच्चों के मामले में इतने निर्मम और क्रूर हो सकते हैं? 1998 में योगी जब सांसद बने, तो अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली सरकार थी। मध्यावधि चुनाव हुआ तो भी अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में ही सरकार बनी, जो 2004 तक रही। फिर 10 वर्षों तक भाजपा सत्ता से बाहर रही। 2014 से भाजपा की पूर्ण बुहमत की सरकार है। यानी योगी आदित्यनाथ की सांसदी के 19 वर्षों में 9 वर्ष ऐसे रहे हैं, जब भाजपा की सरकार थी। क्या किया गोरखपुर के लिए योगी ने, विशेषकर बच्चों के सन्दर्भ में? ध्यान रहे कि शहर का मेयर भी ज्यादात्तर समय भाजपा का ही था। शहर विधायक भाजपा के। आस-पास के सांसद-विधायक भी भाजपा के, कई सारे तो योगी के लग्गू-भग्गू ही थे।

यह सच है कि इंसेफेलाइटिस या दिमागी बुखार का कारण वायरस है, जो मच्छर के काटने या दूषित पानी पीने या खाना खाने (एन्ट्रो वायरस) से बच्चों के शरीर में प्रवेश करता है और बच्चों को संक्रमण का शिकार बना देते हैं। लेकिन सभी बच्चे इसके शिकार नहीं होते हैं। सारे आँकड़े बताते हैं कि इस वायरस के शिकार 70 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं। इस तथ्य की पुष्टि इससे भी होती है कि ज्यादात्तर बच्चे गाँवों के गरीब परिवारों के हैं, उनकी सामाजिक संरचना देखी जाये, तो दलित और पिछडे वर्गों के हैं। गोरखपुर की हालत दुनिया के उन 20 देशों जैसी है जहाँ शिशु मृत्यु दर सर्वाधिक है। यहाँ प्रति वर्ष पैदा होने वाले 1000 शिशुओं में से 62 की एक वर्ष के भीतर ही मृत्यु हो जाती है। इस मामले में गोरखपुर की स्थिति अफ्रीकी देश दक्षिणी सूडान से मेल खाती है, जहाँ प्रति 1000 शिशुओं में औसत मृत्युदर 62.90 है। युद्धग्रस्त और अराजकता के शिकार देश अफगानिस्तान की स्थिति ही केवल गोरखपुर से खराब है, वहाँ 1000 में से 112 शिशुओं की मृत्यु हो जाती है। भारत में शिशु मृत्यु दर का औसत 38 है। 5 वर्षों के बच्चों की मृत्यु दर के मामले में भी गोरखपुर की स्थिति उत्तर प्रदेश के औसत से बदतर है। यहाँ प्रति वर्ष 1000 बच्चों में से 76 बच्चों की मृत्यु 5 वर्ष पूरा करने से पहले ही हो जाती है, कुपोषण के मामले में भी गोरखपुर की स्थिति बदतर है। 35 प्रतिशत बच्चे कम वजन के हैं, 42 प्रतिशत बच्चे कुपोषित हैं। दुनिया भर में यह स्थापित हो चुका है कि यदि शिशुओं को मौत और बीमारियों से बचाना चाहते हैं तो उनका

सम्पूर्ण टीकाकरण आवश्यक है। इस मामले में गोरखपुर न केवल देश में, बल्कि दुनिया में सबसे बदतर स्थानों में से एक है। 3 बच्चों में से केवल 1 बच्चे का टीकाकरण हुआ है यानी दो तिहाई बच्चों को भगवान भरोसे छोड़ दिया गया है। इस मामले में जनप्रतिनिधियों का कितना असंवेदनशील नजरिया है। बच्चों के स्वास्थ्य को निर्धारित करने वाला एक मानदंड यह भी है कि साफ-सफाई की क्या स्थिति है और पीने का साफ पानी उपलब्ध है या नहीं। 65 प्रतिशत परिवारों के लोग खुले में शौच जाते हैं। यहाँ की बहुलांश आबादी को पीने का साफ पानी उपलब्ध नहीं है।

योगी के लग्गू-भग्गू बता रहे हैं कि उन्होंने संसद में इस मुद्दे को 20 बार उठाया। क्या किया उठा कर? कोई इसका यह जवाब दे सकता है कि वे सांसद के तौर पर इससे अधिक क्या कर सकते थे? तो क्या यह मान लिया जाय कि वे एक सांसद के तौर पर बेबश थे, नहीं, ऐसा मानना अपने आपको धोखा देना होगा, खुद को छलना होगा। जो योगी मुसलमान या ईसाइयों के खिलाफ जहर उगलकर तूफान खड़ा कर देते हैं, उस योगी ने इंसेफेलाटिस के मुद्दे पर क्यों जनांदोलन नहीं खड़ा किया। योगी से ऐसी उम्मीद करना अपनी आँख में खुद धूल झोंकना है। उनकी राजनीति की धुरी हिन्दू साम्प्रदायिकता रही है, नफरत का जहर रहा है, इसी जहर के बीज से पैदा हुई वोटों की फसल काट कर मुख्यमंत्री पद पर विराजनमान हो गये और सत्ता में आते ही, गोरखपुर मेडिकल कॉलेज का बजट आधा कर दिया।

सारे तथ्य तो यह बता रहे हैं कि गोरखपुर क्षेत्र और गोरखपुर मेडिकल कॉलेज की स्थिति बद से बदतर होती गयी। साल-दर-साल बच्चे मरते रहे। सच तो यह है कि योगी धर्म का अफीम लोगों को चटाते रहे, मुसलमानों और ईसाइयों के प्रति घृणा बो कर वोट की फसल काटते रहे। इंसेफेलाइटिस और पूर्वांचल की बदहाली को उन्होंने अपने राजनीतिक सफर की सीढ़ी ही बनाया।

बात को इस मोड़ पर छोड़ देना कुछ एक दिन के भीतर 60 मासूमों की मौत और पिछले वर्षों में 25 हजार बच्चों की इंसेफेलाइटिस से मौत की गुनहगार उस विचारधारा, उन नीतियों और विकास के उस मॉडल से मुँह मोड़ना होगा, जिसके योगी पुरजोर समर्थक रहे हैं, जिसके खिलाफ उन्होंने कभी एक शब्द भी नहीं बोला। इन नीतियों को मुक्त बाजार की नीतियाँ या सबकुछ पूँजीपतियों के हवाले करने की नीतियाँ कहते हैं, जो पूँजीवाद का एक रूप है, जिसमें सामाजिक सेवाओं की जिम्मेदारी से सरकार मुक्त हो जाती है। इन सेवाओं में स्वास्थ्य और शिक्षा भी शामिल है। 1990 से अब तक जीडीपी का 0.9 प्रतिशत से लेकर 1.3 प्रतिशत के बीच ही स्वास्थ्य सेवाओं पर खर्च हुआ है, जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन कहता है कि कम से कम 4 प्रतिशत खर्च होना चाहिए, वैसे उनका मानक 6 प्रतिशत का है। दुनिया में इस समय औसत तौर पर जीडीपी का 5.9 प्रतिशत खर्च होता है। हमारे राजनेता वादा करते रहे कि कम से कम 2 प्रतिशत तो खर्च किया ही जायेगा, लेकिन यह वादा कभी पूरा नहीं हुआ। मोदी के नेतृत्व में भाजपा ने भी यह वादा किया था, लेकिन इस वादे को पूरा करने की कौन कहे, उन्होंने अपने पहले ही बजट में इसमें कटौती कर दी। अभी तक यह सरकार तीन बजट प्रस्तुत कर चुकी है, सभी में कटौती ही की गयी। नीति आयोग के सीईओ अमिताभ कॉत ने स्वास्थ्य सेवाओं की स्थिति सुधारने के नाम पर सरकारी स्वास्थ्य संस्थानों के बड़े हिस्से को निजी पूँजीपतियों को सौंपने का सुझाव दिया है। इस सुझाव का निहितार्थ बताते हुए केन्द्र सरकार की पूर्व स्वास्थ्य सचिव सुजाथा राव कहती हैं कि असल बात यह है कि कार्पोरेट हास्पिटल लम्बे समय से सरकारी अस्पतालों पर निगाह लगाये हुए थे। उनकी निगाह इन सरकारी अस्पतालों की जमीनों, डॉक्टरों और मरीजों पर थी। आखिरकार कार्पोरेट अस्पतालों की इन हसरतों को पूरा करने का रास्ता नीति आयोग ने सुझा ही दिया। वैसे मोदी जी के पास हर समस्या का समाधान बाजार और निजीकरण ही है। क्योंकि पूँजीपतियों के धन से मोदी प्रधानमंत्री और योगी मुख्यमंत्री बने हैं। बात इतनी ही नहीं है, मोदी और योगी दोनों का विकास मॉडल कार्पोरेट मॉडल ही है। तभी तो मुख्यमंत्री बनते ही अपने पहले बजट में स्वास्थ्य सेवाओं का बजट आधा कर, स्वास्थ्य सेवाओं के निजीकरण का रास्ता खोल दिया, जिससे पूँजीपतियों को फायदा पहुँचाया जा सके।

खुद योगी के निवास स्थल गोरखपुर में निजी स्वास्थ्य सेवाएँ सबसे तेजी से फल-फूल रही हैं, उस पूरे इलाके में यह कमाई का सबसे अच्छा धंधा है, निजी नर्सिंग होमों, अस्पतालों की भरमार है। कार्पोरेट अस्पताल भी अपना पाँव फैला रहे हैं, प्रतिदिन हजारों लोग सैकड़ों किलोमीटर से इलाज के लिए यहाँ आते हैं, जिन्हें डॉक्टर, नर्सिंग होम, अस्पातल, जाँच केन्द्र अनाप-शानाप तरीकों से लूटते हैं, इनमें बहुत सारे लोग अपनी सारी जमा-पूँजी यहाँ गवाँकर अपने घरों को लौटते हैं, इस जमा-पूँजी में उनके खेत भी शामिल हैं, जो उनकी रोजी-रोटी के साधन थे। कई बार तो इलाज के दौरान मौत के शिकार सगे-सम्बन्धी को अस्तपताल का बकाया बिल चुका कर ले जाने की स्थिति भी नहीं रहती। इस धन्धे में योगी भी शामिल हैं, उनका अपना खुद का बड़ा अस्पाताल है।

कोई तथ्य, कोई तर्क, योगी का इतिहास यह नहीं साबित करता कि योगी का गोरखपुर के मासूम बच्चों से कोई लेना-देना है। राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं की नाव पर सवार इस योगी के पास गोरखपुर, देश या समग्र इंसानियत को देने के लिए सिर्फ और सिर्फ घृणा का जहर है। योगी लाख कोशिश कर ले, लेकिन वह मासूमों के खून से सनी अपनी आत्मा को धो नहीं पायेगा।

कविता

मौत का कोई शीर्षक नहीं होता

-- देवेन्द्र आर्य

तेरी नालायकियत यह थी कफील
कि तेरे कारण हमारी नालायकी उजागर हो गयी
मुसलमान कहीं का!

कम थे मरीज क्या तेरे नर्सिंग होम में
कि नींद नहीं आ रही थी उस रात
चला आया मसीहा बन बच्चों की घुटती साँस बचाने
अब गिन अपनी साँसें
ऐसी सजा देंगे कि खाली सिलिंडर भी बोल उठेंगे
हम तो लबालब भरे हैं मालिक
रिसने को तैयार।

इतनी कमजोर नहीं नाक हमारी कफील
कि बच्चे काट ले जायें
अब तो वो इलाज होगा कि पानी बोल उठेगा
मैं इतना बेपानी नहीं सरकार
कि आप के सरोवर से दगा करूँ

मैं तो जापान कभी गया ही नहीं
बुखार से मेरा कोई ताल्लुक नहीं
मैं तो कब का टीका जा चुका हूँ
देख लो अपना रजिस्टर
असल में टीके का खेल तो फीका किया राप्ती ने।

राप्ती थरथराने लगी
कसम गऊ माता की
मैं तो मान की बेला में गोरखपुर थी ही नहीं
चली गयी थी आसाम फिर बिहार रिश्तेदारी में
वैसे भी मुझे मेधा से डर लगता है इन दिनों
कब नर्मदा दीदी को छोड़ मेरे पीछे पड़ जायें
मैं ठहरी नमामि गंगे की
सच्ची कहती हूँ सारा खेल हवा का है
उसी ने आप के खिलाफ साजिश की है
इतना भी कम नहीं था अनुदान
कि ऑक्सीजन पर भारी पड़ जाय पिछवाड़े की हवा।

क्यों री हवा!
तुझे रोज सुबह पवन कह कर मैं बछड़ों की तरह सहलाता रहा
इसी दिन के लिए
कि तू जोगी से मोहब्बत करते करते वियोगी हो जाय
रोज देशी घी का धुआँ पिलाया
भेजे तेरे पास मेवा मिष्ठान्न अग्नि के हाथों
इसी दिन के लिए म्लेच्छिन!

ऐसा न कहें सरकार
हवा तो अभी भी आपकी ही है
आपकी ही पालकी ढो रही है हवा
ई ससुर अगस्तवा सब गड़बड़ किये है
कई बार टोका कि सावन में साग
और भादों में दही की चिन्ता छोड़ दिमाग की चिन्ता कर
कि कहीं मुँह न फुला के बैठ जाये दिमाग
मगर हुआ वही
बाकी गलती उसकी भी नहीं
पूछ लो कलेक्टर साहब से
अब तो लालकिला भी जान गया कि जब से
विपदा को आपदा का खिताब मिला है
उसका दिमाग फूल के कुप्पा हो गया है
बड़े नहीं फँसे तो फुसला लिया बच्चों के दिमाग को
संस्कारों की कमीं होगी तो यही सब होगा न!

जिद्दी होते हैं बच्चे
मरने की ठान ली तो ठान ली
न जीने की फिक्र न मरने का गम
उनके चक्कर में बदनाम हुए हम

खैर छोड़ो
बाबा गोरखनाथ की कसम
ऐसी सजा देंगे कि डॉक्टर इलाज करना भूल जायेंगे
और मरीज डॉक्टर के पास जाना
एक ही इलाज होगा
हाथ दिखाना
जाप कराना
और मोदियाना
बुखार छूट जायेगा बुखार को
रामदेव हैं न!

न रहेगा पानी न
उगेगा धान
न जायेगी मासूमों की जान
है न मेरा देश महान।

नोटबन्दी से प्यार

--जी सम्पत

(यह मत पूछो कि नोटबन्दी ने तुम्हारे लिए क्या किया; इसके बजाय, अपनी अन्तरात्मा की गाय से पूछो कि तुम्हारी बायोमेट्रिक्स राष्ट्र के लिए क्या कर सकती है।)

काफी पुराने समय की बात है, इतनी पुरानी कि लगता है जैसे एक दूसरे जीवन-काल गुजरा हो, मेरी एक महिला-मित्र थी जिसे मैं पूरी तरह प्यार करता था। वह दूसरे लड़कों से भी मिलने जाया करती थी, लेकिन मैं इसकी परवाह नहीं करता था। वह हर बार मेरा फोन नहीं उठाती थी। वह हफ्तों ऐसा व्यवहार करती थी जैसे मेरा कोई अस्तित्त्व ही न हो। लेकिन वह मेरे सभी उपहार, परीक्षा के लिए तैयार सभी नोट्स सहर्ष स्वीकार करती थी और जब हम बाहर घूमने जाते तो सभी खर्चों का भुगतान करने की अनुमति भी दे देती थी। इस तरह वह बेहद उदार थी।

भक्ति गीत

मेरे जीवन का एकमात्र पवित्र उद्देश्य उसका समर्पित गुलाम, उसका सबसे पसन्दीदा नौकर बनना था। मैं उससे इतना प्यार करता था कि अगर वह मुझसे कहती तो मैं बरेली तक गोमांस ढोकर ले जाता। अगर वह मुझसे कहती तो मैं भारतीय रेल द्वारा परोसा जानेवाला तेलचट्टा-युक्त खाना भी खा लेता और गोरखपुर के बाबा राघवदास अस्पताल में भरती हो जाता। या अगर वो नहीं भी कहती तो मैं बिना दाना-पानी-दारू के 72 घंटे लाइन में खड़ा रह लेता।

अब, मुझे तो पता ही है कि मैं कोई दीपिका पदुकोण या कोई सोनाक्षी सिन्हा नहीं हूँ कि आपकी दिलचस्पी मेरी प्रेम कहानी पढ़ने में होगी। लेकिन पिछले हफ्ते के रहस्योद्घाटन के लिए मैं अपने इस अतीत के अधोपतन का बेहद अहसानमंद हूँ।

हाँ, मेरा मतलब नोटबन्दी से ही है। हर किसी ने मुझसे वही दो सवाल किये-- कोई गुस्सा क्यों नहीं कर रहा है? और यह सब क्यों किया गया? अब यह साफ हो गया है कि इसका कोई भी कथित उद्देश्य पूरा नहीं हुआ। फिर गुस्सा कहाँ चला गया? कोई जनआन्दोलन क्यों नहीं हो रहा है?

क्या यह सम्भव है, जैसा कि मेरे पिता मुझे बार-बार याद दिलाते रहते थे कि हम 'विशुद्ध' बज्र मूर्खों का राष्ट्र हैं? क्या हम दुनिया के एकमात्र देश हैं जहाँ सभी लोगों को हमेशा-हमेशा के लिए मूर्ख बनाया जा सकता है? क्या हम दर्द का मजा लेने वाले मर्द हैं जो बिना किसी कारण मिलनेवाली सजा को भी पसन्द करते हैं? या जैसा कि मेरा एक सहकर्मी कहता है, हम दर्द और अपमान में मजा लेने और देने वाले जन्तु हैं?

हाँ, मेरे दोस्तों ने भी उन वर्षों के दौरान मुझसे ऐसे ही सवाल पूछे थे जब मैंने उस महिला-मित्र को अपनी बाइक, अपना हेलमेट, अपना रेनकोट अपने पैसे से खरीदे हुए सिनेमा के दो टिकट दे दिये थे। मैंने यह काम बेहिचक किया था जब आखिरी वक्त उस लड़की ने मुझे बताया कि उसका विचार बदल गया है और अब वह इस रोमांटिक हिट फिल्म को मेरे साथ नहीं, बल्कि अपने 'मौसेरे भाई' के साथ देखना चाहती है जो किसी दूसरे शहर से आया है।

तब मैंने अपने बेढब दोस्तों को पलटकर जवाब दिया था कि वे सच्चे प्यार की प्रकृति को नहीं समझते। आज मैं वही बात उन लोगों से कहूँगा जो इस बात पर अचरज कर रहे हैं कि भारत के लोग अपने ऊपर सवारी गाँठनेवाले लोगों पर गुस्सा नहीं कर रहे हैं।

भारत की जनता अपने प्रधानमंत्री को प्यार करती है। वह उनसे उसी तरह प्यार करती है जैसे मैं उस लड़की से प्यार करता था। यह लागत-मुनाफा का हिसाब रखने वाला कोई साधारण प्यार नहीं है। यह एक आध्यात्मिक, बिना शर्त, आदि-वैदिक प्रेम है। यह भक्ति है। यही कारण है कि इस प्रकार के प्रेम में खुद को समर्पित करनेवाले लोगों को 'भक्त' कहते हैं।

अगर कल 8 बजे शाम को प्रधानमंत्री टीवी पर आते हैं और घोषणा करते हैं कि 1 अक्टूबर से हर व्यक्ति के लिए अपनी एक उँगली सरकार को दान करना जरूरी होगा ताकि डिजिटल इंडिया को सच्चाई में बदला जा सके, तो मैं आपको यकीन दिलाता हूँ कि अपनी उँगली दान करने पर आमादा लोगों की लम्बी कतार लग जायेगी।

इसलिए हम इस बात को सीधे-सीधे समझें। नोटबन्दी का सम्बन्ध अर्थतन्त्र से नहीं है। यह कभी था भी नहीं, न ही यह कोई 'गहरी राजनीतिक चाल' है जैसा कुछ अति-उत्साही भक्त दावा करते हैं। अपने मूल में नोटबन्दी का अभ्यास और कुछ नहीं था, महज एक अभ्यास ही था। यह एक तरह की कवायद थी जो सैनिक स्कूल में या शाखाओं में सुबह-सुबह हुआ करती है। इसका उद्देश्य भी वही था- उत्तम कोटि की आज्ञाकारिता।

महानता का सार

कोई भी राष्ट्र जो महान बनना चाहता है उसे दो चीजों की जरूरत होती है- एक महान नेता और एक जनसंख्या जिस पर

भरोसा किया जा सके कि वह महान नेता का आँख मूँद कर आज्ञापालन करेगी। हमारे पास एक महान नेता तो पहले से ही है। लेकिन आज्ञाकारी जनसंख्या के निर्माण का काम अभी प्रगति पर है, क्योंकि सब लोगों में भक्त बनने की अभिरुचि अभी नहीं है। इसीलिए नोटबन्दी जैसी कवायद की जरूरत होती है। आदर्श रूप में, हमें हर छठे महीने नोटबन्दी जैसा कोई काम करना होगा, ताकि लोग 10,000 सवाल पूछने के बजाय चुपचाप आज्ञा पालन करने के आदी हो जायें।

कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यह तो गुलामी के समान है और वे सही भी हो सकते हैं। दुनिया की महानतम सभ्यताएँ चाहे वह प्राचीन ग्रीक हो, प्राचीन रोम हो, या वेस्टेरोस के सात रजवाड़े सब का निर्माण गुलामी के दम पर ही हुआ था। इसीलिए आधार नम्बर बिलकुल जरूरी है, क्योंकि इसमें निगरानी रखने के जो उपाय किये गये हैं वे ही जनसंख्या में मौजूद विद्रोही तत्त्वों को विश्वासपात्र गुलाम में बदलने का एकमात्र रास्ता है। वास्तव में, हमारे देश में गुलामी की जो अनोखी किस्म है उसको 'गुलाम' शब्द अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इसके लिए सही शब्द 'मवेशी' है।

क्या कभी आपने गाय को विरोध प्रदर्शन करते देखा है? या गुस्सा करते? या अपने मालिक के रहस्यमय तौर-तरीकों पर सवाल उठाते? जैसा कि आपको पहले से पता है, दुनिया को बदलने के लिए खुद को बदलना होता है। और भारत को एक महान राष्ट्र बनाने के लिए, सभी भारतीयों को मवेशी के रूप में अपनी नयी अनोखी पहचान को आधार नम्बर के रूप में गले लगाना जरूरी है।

इसलिए यहाँ अपने सभी भारतीय देशवासियों से मेरा विनम्र आग्रह है- यह मत पूछो कि नोटबन्दी ने तुम्हारे साथ क्या किया; इसके बजाय, अपनी अन्तरात्मा की गाय से पूछो कि तुम्हारा बायोमेट्रिक राष्ट्र के लिए क्या कर सकता है।

(द हिन्दू से साभार, अनुवाद- दिगम्बर)

गौरी लंकेश की बर्बर हत्या के मायने

--राजेन्द्र प्रसाद

5 सितम्बर 2017 को बंगलौर के राजराजेश्वरी नगर में स्थित गौरी लंकेश की उनके आवास पर तीन अज्ञात बन्दूकधारियों ने गोली मार कर नृशंस हत्या कर दी। वे बंगलौर से कन्नड़ भाषा में 'लंकेश' नाम से एक साप्ताहिक पत्रिका निकालती थीं। उनका अपराध यह था कि वे वैचारिक पत्रकारिता में विश्वास रखती थीं और प्रतिक्रियाशील विचारधारा के खिलाफ खुलकर लिख-बोल रही थीं। इस बर्बर हत्या पर नीरज दवे और निखिल दधीच नामक युवक ने प्रसन्नता जाहिर करते हुए उन्हें गाली दी और उनकी नृशंस हत्या का आनन्द-उत्सव मनाया। जिन लोगों ने गौरी लंकेश की हत्या पर शोक-संवेदना का इजाहार किया, उनके बारे में उन्होंने सोशल मीडिया पर मंतव्य किया, 'एक कुतिया कुत्ते की मौत क्या मरी कि पिल्ले एक सुर में बिलबिला रहे...।' इस प्रकार उन्होंने अपनी राजनीतिक समझ और वैचारिक जुड़ाव का परिचय दे दिया। अब वे खूब चर्चा में बने हुए हैं। दरअसल उनके चर्चित होने का मुख्य कारण यह है कि प्रधानमंत्री मोदी ट्वीटर पर उनका अनुसरण करते हैं। हालाँकि यह तथ्य प्रकाश में आने के बाद प्रधानमंत्री ने खुद निखिल दधीच को एक पत्र लिखा, 'प्रिय मित्र दधीच, ...यह कहते हुए शर्म आ रही है कि मैं तुम्हारा 'फॉलोवर' हूँ। आंग सान सू की ने कल जब मुझसे कहा कि 'मोदी जी आप ऐसे लोगों को फॉलो करते हैं' तो मैं शर्म के मारे जमीन में गड़ गया। मुझे जिन्दगी में पहली बार अपने विदेश में होने का पछतावा हुआ। मैं सू की से नजरें नहीं मिला पाया, सिर्फ तुम्हारी वजह से! मैंने तो तुम्हारे ट्विटर बायो में 'हिन्दू नेशनलिस्ट' और 'मोदी प्रशंसक' लिखा देखा और देखते ही फॉलो करने लगा। ...। मैं तुम्हे चेतावनी देता हूँ, अगर तुमने ऐसे दो-चार और ट्वीट कर दिये तो मैं किसी भव्य कार्यक्रम में मंच पर बुलाकर व्यक्तिगत रूप से मिलकर तुम्हे डाटूँगा। समझ गये?... समझ लो दधीच! इशारा ही काफी है।'

नरेंद्र मोदी देश के प्रधान सेवक हैं। वह नये भारत के निर्माण में लगे हुए हैं। उनके पत्र से यह जाहिर होता है कि जिस दधीच को वह फॉलो करते हैं उसके कारण उन्हें बेहद शर्मिन्दगी उठानी पड़ी। अब इसके बाद वह क्या करेंगे, भव्य कार्यक्रम में मंच पर बुलाकर व्यक्तिगत रूप से मिलकर... यह हम नहीं कह सकते!

एक महिला कलमकार की हत्या से मैं जितना व्यथित और परेशान नहीं हूँ उससे कहीं अधिक मानवीय संवेदनाओं और जीवन-मूल्यों के क्षरण को लेकर हूँ। मतविरोध के कारण देश के इतिहास में यह कोई पहली हत्या नहीं है। हमारे देश में मतविरोध के कारण होने वाली हत्याओं की फेहरिश्त काफी लम्बी है। 2014 से अब तक हमारे देश में लगभग 110 पत्रकारों की हत्याएँ हुई हैं। इनमें राजनीतिक कारण से हुई हत्याएँ भी शामिल हैं। व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार और धार्मिक पाखंड और दुराचार के खिलाफ लिखने के कारण अधिकतर हत्याएँ हुई हैं। इन हत्याओं को लेकर सामान्य तौर पर पक्ष-विपक्ष के अपने तर्क रहे हैं। लेकिन कर्नाटक की मशहूर पत्रकार गौरी लंकेश की हत्या पर एक खास विचारधारा के चन्द संवाहकों ने जिस गलीज रुचिबोध का परिचय दिया, वह सचमुच ही देश और समाज को विचलित करने वाला

है। हम देश को किस ओर ले जाना चाह रहे हैं! हम समाज में कौन-सा मूल्यबोध स्थापित करने को लेकर इतना तत्पर हैं! हम जिस आदर्श और विचारधारा को बातते हैं, उसकी शक्ल-सूरत कैसी है! कहीं ऐसा तो नहीं कि हिन्दू धर्म के उत्थान के नाम पर एक विकृत और गलीज रुचिबोध समाज पर थोप रहे हैं!

मैं समझता हूँ कोई भी स्वस्थ मस्तिष्क वाला सन्तुलित व्यक्ति वैचारिक विरोध के कारण होने वाली हिंसा के पक्ष में इस तरह खड़ा नहीं होगा। हत्या चाहे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय अथवा विचारधारा से जुड़े हुए व्यक्ति की क्यों न हो, उसे सभ्य समाज कतई स्वीकार नहीं करता। सैद्धान्तिक विरोध अथवा किसी खास बिन्दु पर असहमति के कारण होने वाली हिंसा के पक्ष में अगर हम तनकर खड़े होने लगें और तर्क देना शुरू कर दें तो फिर देश में अराजकता की भयावह स्थिति उत्पन्न हो जायेगी और हर व्यक्ति का जीवन संकट में पड़ जायेगा। कारण कि देश का हर नागरिक जाने-अनजाने किसी न किसी धर्म-सम्प्रदाय अथवा विचारधारा से जुड़ाव रखता है। समाज में आस्तिक भी हैं और नास्तिक भी। इस देश में किसी के लिए राम आदर्श हैं तो किसी के लिए रावण। यहाँ राम की भी पूजा होती है और रावण की भी। विविध राष्ट्रीयताओं का यह देश है। हिन्दू धर्मावलम्बी जहाँ मूर्ति पूजा में आस्था रखते हैं वहीं आर्यसमाजी हिन्दू होने के बावजूद सिर्फ वैदिक परम्परा में विश्वास रखते हैं। आस्तिक होते हुए भी ये मूर्तिपूजा, अवतारवाद और परम्परा के स्थापित कर्मकाडों के कट्टर विरोधी हैं। इनके लिए वेद और वैदिक परम्पराएँ ही सर्वोपरि हैं। इनके भी अपने मत और तर्क हैं।

रोज ही एक से बढ़कर एक चमत्कारी बाबा और भगवान अवतरित हो रहे हैं। देश का दुर्भाग्य यह नहीं है कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा खुद को भगवान मानने वाले पाखंडी और लम्पट बाबाओं के दरबार में अपनी समस्याओं को लेकर हाजिर हो रहा है। देश के प्रधान सेवक के साथ ही कद्दावर राजनेता अथवा बड़े अमला-अधिकारी, जिन पर पूरे राष्ट्र के विधि-विधान की रक्षा का दायित्व है, जब वे भ्रष्ट और दुराचारी बाबाओं की रासलीला में मंच पर अपनी अहम् भूमिका में नजर आते हैं और उनके पाखंड को महिमामंडित कर उसे एक ठोस धरातल उपलब्ध करा रहे हैं, तो तथाकथित बाबाओं को खुद-ब-खुद जनसेवा का प्रमाण पत्र हासिल हो जाता है। देश के प्रभावशाली लोगों द्वारा किये जा रहे ऐसे कृत्य इस देश का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। देश के संविधान की मूल भावना के विपरीत किये जा रहे कृत्य को क्या हम राष्ट्रविरोधी कृत्य नहीं कह सकते? धर्मनिरपेक्ष होने का कतई यह अर्थ नहीं है कि राज्य पाखंड, धर्मांधता और दुराचार को प्रश्रय दे। जाहिर है इससे जनता में उन दुराचारियों को लम्पटता और लूट-राज के साम्राज्य विस्तार की सारी सहूलियतें सहज ही हासिल हो जाती हैं।

बलात्कारी बाबा आशाराम बापू की अभिनव रासलीला में मैंने देश के पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी, लालकृष्ण आडवाणी, वसुंधराराजे, शिवराज सिंह चौहान, बाबा रामदेव और देश के वर्तमान प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के अतिरिक्त अनेक प्रभावशाली नेताओं और अमला-अधिकारियों को बापू का स्तुतिगान करते और उनसे आशीर्वाद प्राप्त करते हुए देखा है। डेरा सच्चा सौदा प्रमुख बलात्कारी बाबा गुरमीत राम रहीम बलात्कार के जुर्म में आज कारागार में बन्द है, उसे जिन्होंने महिमा मंडित किया और अपने दलीय और राजनीतिक स्वार्थ के कारण उसकी हैसियत परवान चढ़ायी, उनके बारे में भी देश को पता होना चाहिए। ये सब राष्ट्रभक्त लोग हैं। कांग्रेस और भाजपा दोनों ने राम रहीम के कद को हिमालय की तरह खड़ा किया। दर्जनों भाजपा नेताओं के उक्त बलात्कारी बाबा से घनिष्ट सम्बन्ध रहे हैं। सम्भव है कि कुछ तथाकथित देश भक्त यह तर्क खड़ा करें कि भाजपा के राष्ट्रीय अध्यक्ष अमित शाह जब राम रहीम की गुफा में अपने खास लोगों को लेकर चुनावी वैतरणी पार करने का समझौता करने गये थे, उस वक्त उन्हें यह मालूम नहीं था कि बाबा अपने आश्रम में रह रही लड़कियों के साथ बलात्कार करता है। हत्याएँ करता है। अवैध और अनैतिक तरीके से धन बटोरता है। और देश के प्रधान सेवक नरेंद्र मोदी जिन्होंने अपने चुनावी भाषण में बाबा की प्रशंसा में खूब कसीदे पढ़े थे, शायद उन्हें भी इतना कुछ ज्ञात नहीं होगा। राम-रहीम सिर्फ दुराचारी ही नहीं बल्कि एक हत्यारा है। वह भ्रष्ट है। सारा देश जानता है उसपर विभिन्न अदलतों में आपराधिक मामले दर्ज हैं। पंजाब-हरियाणा हाई कोर्ट में उस पर हत्या और बलात्कार का मामला चल रहा है। जो बात पूरी दुनिया और देश के संज्ञान में थी, वह बात इन नेताओं के संज्ञान में नहीं थी। देश को यह बात समझनी होगी कि सत्ता-सम्पत्ति और धर्म के बीच यह जो प्रगाढ़ सम्बन्ध दिख रहा है, इसका राष्ट्रहित से कोई रिश्ता नहीं है।

दरअसल जनविरोधी ताकतें अपने दलीय हित-साधन को लेकर ऐसे कृत्यों की मदद में तन कर खड़ी होती हैं और आजाद आवाज को बर्बरतापूर्वक दबाती हैं। अतीत में भी यह हुआ है। वर्तमान में भी यह हो रहा, यह कोई नयी बात नहीं है। इसमें नयी बात सिर्फ यह है कि वर्तमान में वैचारिक विरोध को लेकर जो हिंसा हो रही है, उसके पक्ष में जो तर्क खड़े किये जा रहे हैं और जिस भाषा का इस्तेमाल हो रहा है, मैं समझता हूँ इस पर देश की बौद्धिक जमात खुद को असहज महसूस कर रही है। सम्भावित संकट को हम बिलकुल नजरअन्दाज नहीं कर सकते। समय रहते हमें अपनी रचनात्मकता दिखानी होगी। आजाद आवाज को हम दम तोड़ते नहीं देख सकते। अभिव्यक्ति के सारे खतरे हमें उठाने ही होंगे।

किसी के खानपान, पहनावे और रंग को लेकर आज देश में जो चल रहा है, वह हमारे संविधान और सामाजिक यथार्थ के विपरीत है और बेशक, यह एक तरह का धार्मिक उन्माद है। मजहबी जुनून है। देश की एकता और अखंडता के हित में यह कतई नहीं है। और भी अनेक सवाल हैं। ऐसे मामलों में राज्य को अपनी भूमिका स्पष्ट करनी होगी। ऐसे वाकये जो आज

हमारे देश में हो रहे हैं, इन्हें नजरअन्दाज कर हम अपनी बात को आगे बढ़ाना नहीं चाहते। कारण कि एक पत्रकार होने के नाते इस पेशे से जुड़े हुए कलमकारों के समक्ष खड़ी उन चुनौतियों से हम पूरी तरह वाकिफ हैं, जिनसे कदम दर कदम हमारे साथियों को मुठभेड़ करनी पड़ती है। यहाँ हम बड़े मीडिया घरानों के सीधे प्रबन्धन से जुड़े उन तथाकथित पत्रकारों और लेखकों की बात नहीं कर रहे हैं जो सत्ता-सियासत के गलियारे में निरन्तर अवसर की तलाश करते रहते हैं। इनके कथित राष्ट्रवाद और राष्ट्रप्रेम के मायने हमें समझने होंगे। बड़े उद्योगपतियों के कई जायज-नाजायज धंधे होते हैं, उनकी राजनीतिक और व्यावसायिक महत्त्वाकांक्षाएँ होती हैं, इसके लिए वे निजी प्रचार माध्यमों द्वारा सत्ता की दलाली कर अपने वैध-अवैध कारोबार को संरक्षित करते हैं। राज्य और केन्द्र सरकार से अपेक्षित सहूलियतें हासिल कर अपनी राष्ट्रभक्ति का खुलकर इजहार करते हैं। इनके लिए पत्रकारिता मिशन नहीं, बल्कि एक धंधा है जिसे आप ऊपर चढ़ने की एक सीढ़ी भी समझ सकते हैं।

इससे इतर पत्रकारों का एक ऐसा भी वर्ग है जिसके लिए पत्रकारिता सिर्फ जीविकोपार्जन का साधन ही नहीं, बल्कि एक मिशन है। जाहिर है अपने मिशन की मर्यादा और विश्वसनीयता बनाये रखने को लेकर इन्हें अक्सर जोखिम उठाने पड़ते हैं। अनगिनत संकटों से जूझते रहना इनकी नियति बन चुकी है। बेशक इनका यह कर्तव्यबोध बहुत बार जानलेवा भी साबित होता है। फिर भी हर मोर्चे पर ये अपने मिशन के प्रति ईमानदार रहते हुए अपनी नियमानुवर्तिता की जीवन्त मिसाल पेश करते हैं। इनमें भी अपवाद के बतौर कुछ पर भ्रष्ट होने अथवा अपने पेशे की मर्यादा के खिलाफ कार्य करने को लेकर सवाल खड़े किये जा सकते हैं। जब समाज मूल्यों के अपक्षय के विकट दौर से गुजर रहा हो, तो ऐसे वाकये से हम पूरी तरह बच नहीं सकते। लेकिन महत्त्वपूर्ण यह है कि चमकते भारत की जो तस्वीर सता पक्ष हस्बे-आदत लोगों को दिखा रहा है, वह सही नहीं है। हकीकत बेहद भयावह है।

मुझे लगता है देश दो भागों में विभक्त है। राज्य के सियासी और मजहबी जुनून का आलम यह है कि कथित राष्ट्रभक्त गौ हत्या के नाम पर रोज ही कहीं न कहीं अपनी बर्बरता का खुलेआम प्रदर्शन कर रहे हैं। सिर्फ सन्देह के आधार पर अब तक न जाने कितने बेगुनाहों को भीड़ ने सरेआम पीट-पीट कर मार दिया। ऐसे मामलों में राज्य की भूमिका पर सवाल उठना लाजिमी है। आप जानते हैं एक खास सम्प्रदाय से जुड़े गौ-रक्षकों ने पिछले 1 अप्रैल को राजस्थान के अलवर में पहलू खान को किस तरह बेरहमी से पीट-पीट कर मार डाला। ज्ञातव्य है कि पहलू खान का पूरा परिवार पीढ़ियों से गौ-दूध के व्यवसाय से जुड़ा हुआ था। अपनी मृत्यु से पूर्व पहलू खान ने पुलिस को अपने बयान में हमलावरों के नाम भी बताये थे। पहलू खान की हत्या के समर्थन में कुछ लोगों ने पुलिस को वीडियो भी उपलब्ध कराये। इसके बावजूद नामजद अभियुक्तों को राजस्थान की स्पेशल पुलिस जाँच टीम ने निर्दोष पाया। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि पुलिस ने अभियुक्तों को अपनी हिरासत में भी लेने की जरूरत नहीं समझी। चूँकि राजस्थान के गृहमंत्री ने जाँच रिपोर्ट आने के पहले ही विधानसभा में यह बयान दे दिया कि पहलू खान की हत्या में गौ-रक्षक शामिल नहीं थे। आखिर पहलू खान की हत्या किसने की? सवाल यह नहीं है कि पहलू खान किस बिरादरी से था। अगर वह निर्दोष था तो उसकी हत्या किसने की? क्योंकि एक नहीं ऐसे सैकड़ों वाकये गिनाये जा सकते हैं। मोदी के चमकते भारत की यह भी एक तस्वीर है। ऐसी तस्वीरें देश में भरी पड़ी हैं। यह बात दीगर है कि पेशवर मीडिया के लिए अपने व्यावसायिक हित को देखते हुए इन्हें पेश करना सम्भव नहीं होता।

दरअसल वैचारिक लेखन से जुड़े सृजनकर्मियों और सामाजिक रूप से प्रतिबद्ध पत्रकारों के समक्ष कई गम्भीर चुनौतियाँ रहती हैं। बेशक कर्तव्यबोध ही वह कारक है जिसके कारण राष्ट्रहित में सरकार की जनविरोधी नीतियों के खिलाफ एक पत्रकार अथवा लेखक को कलम चलानी पड़ती है। इन्हें सत्तासीन नेताओं और नौकरशाहों के संरक्षण में अबाध गति से होने वाले भ्रष्टाचार और धार्मिक पाखण्डों को उजागर करना पड़ता है। फिरकापरस्त और सम्प्रदायिक ताकतें जो छद्म राष्ट्रवाद और राष्ट्रप्रेम के आवरण में छिपकर मनुष्य विरोधी षड्यंत्र रच रही होती हैं, उनके खूँखार और गलीज चेहरे को जन-समक्ष लाने का महत कार्य भी इनके जन सरोकार और सृजनकर्म का ही हिस्सा है। सत्य साधना की अभिव्यक्ति के अपने अनगिनत खतरे हैं, जिनसे इन्हें निरन्तर जूझते रहना पड़ता है। अपनी जान तक गँवानी पड़ती है। जिस तरह गौरी लंकेश ने अपनी जान देकर पेशे की मर्यादा कायम की और वैचारिक दृढ़ता का सबूत पेश किया, वह हमारे लिए अनुकरणीय तो है लेकिन कोई नयी बात नहीं। इसके पहले भी हमारे कई कलमकारों ने अपनी जान देकर जम्हूरियत और जीवन-मूल्यों को बचाने का महत कार्य किया है। देश-दुनिया के इतिहास के ये विरल व्यक्तित्त्व हैं। इन सभी के प्रति हमारे मन में यथेष्ट सम्मान है।

सत्ता की दलाली करना, पाखण्ड और अन्धआवेग के दरबार में सम्मिलित होना, सरकारी नीतियों की तारीफ में कसीदे पढ़ना और उन पर अपनी कलम चलाना भी एक तरह की पत्रकारिता है। आज जो लोग ऐसा कर रहे हैं, दरअसल वे सरकार के जन सम्पर्क अधिकारी और सूचना विभाग की भूमिका बखूबी निभा रहे होते हैं। स्थापित व्यवस्था अथवा किसी सरकार की नीतियों का गुणगान करना, पत्रकार अथवा सृजनकर्मी का धर्म नहीं है। अन्धआवेग, छद्म राष्ट्रवाद और धार्मिक उन्माद के सम्भावित खतरों से लोगों को सतर्क कराते रहना, हमारे कर्ममय जीवन का ही एक अनिवार्य कार्यभार है। बेहतर जीवन-मूल्यों के निर्माण की दिशा में उसकी भूमिका स्पष्ट होनी चाहिए। यह कोई जरूरी नहीं कि स्थापित व्यवस्था के पैरोकार जिस तरह सोचते हैं या जिन चीजों को सही ठहराते आ रहे हैं, उनसे हम भी

सहमत हों। विरोध के बिन्दु भी तो हो सकते हैं। यह सम्भव नहीं है कि समाज में किसी सवाल पर हर व्यक्ति एक ही तरह से सोचने लगे। समाज कोई जड़ वस्तु नहीं है कि हर कोई एक ही दिशा में विचार करे, एक ही रंग को पसन्द करे। यह मृत समाज का सूचक है। मनुष्य एक चेतनशील प्राणी है। वह सिर्फ पुस्तकों से ही ज्ञान हासिल नहीं करता। वह अपने जीवन-अनुभव के साथ ही प्रकृति जगत से भी बहुत कुछ सीखता है। मानव-समाज में चेतना के विकास के क्रम में मत पार्थक्य की अपनी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। चूँकि गौरी लंकेश वैचारिक लेखन से जुड़ी हुई थीं और भाजपा और आरएसएस के छद्म राष्ट्रवाद को लेकर समझौताहीन वैचारिक संघर्ष चला रही थीं, जिसके कारण पहले से ही वह प्रतिक्रियाशील और अराजक तत्त्वों के रडार पर थीं। दरअसल ये वे हीं लोग हैं जो उनकी हत्या से प्रसन्न हैं। उनके तर्क हैं कि वह आरएसएस, भाजपा और हिन्दुत्व के खिलाफ सर्वाधिक मुखर थीं। हिन्दू देवी-देवताओं और कर्म-कांडों के खिलाफ खुलकर लिखती और बोलती थीं। अगर उनकी हत्या का यह कारण है तो फिर हमें कहना पड़ेगा कि क्या हम हिंसक नर-पशुओं के बीच, एक ऐसे गलीज और बर्बर समाज में रह रहे हैं, जहाँ विरोधी विचार के लिए थोड़ी भी जगह नहीं है! मानव-समाज में अरसे से परस्पर विरोधी विचारधाराएँ चली आ रही हैं। खुद एक परिवार में ही परस्पर विरोधी विचार और भावधारा के लोगों को हम पाते हैं। यहाँ तक कि एक ही घर-परिवार में पिता-पुत्र किसी सवाल पर एक मत नहीं रखते। एक गतिशील समाज में मत पार्थक्य का होना, उसकी जीवन्तता और चेतना के स्तर का द्योतक है। हमारे बीच ईश्वरवादी भी हैं और अनिश्वरवादी भी। समाज में मत पार्थक्य पहले भी रहा और आज भी है। किसी व्यक्ति विशेष की नृशंस हत्या से इसे खत्म नहीं किया जा सकता। इसी देश में कपिल भी हुए हैं और कणाद भी। हमारे बीच चार्वाक भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुके हैं। इसी तरह बुद्ध और महावीर भी अपने जीवन-दर्शन को लेकर समाज में उपस्थित हैं। इनसे इतर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के प्रणेता वस्तुवादी चिन्तक कार्ल मार्क्स भी सामाजिक मननशीलता को उद्वेलित करते रहे हैं। हमें यह समझना होगा कि व्यक्ति विशेष की मौत के साथ ही उसके विचार निर्मूल नहीं होते। जब विचार अपनी शक्ति और सामर्थ्य के बल पर खड़े होते हैं तो हिंसा नहीं होती, वाद-विवाद होता है। हिंसा तब होती है जब विचार बौना पड़ जाता है।

गौरतलब है कि गौरी लंकेश की हत्या का कोई व्यक्तिगत कारण नहीं रहा। प्रगतिशील लेखक और चिन्तक कलबुर्गी, नरेंद दाभोलकर और गोविंद पानसारे की हत्या भी व्यक्तिगत कारणों से नहीं हुई। हत्यारों ने इनकी हत्या का एक ही तरीका अपनाया। इन चारों हत्याओं में एक समानता है। दरअसल वैचारिक मतभेद के कारण ही इनकी हत्याएँ हुईं। गौरी लंकेश दक्षिणपंथी विचारधारा की आलोचक थीं। उन्होंने अपनी साप्ताहिक पत्रिका के माध्यम से 'कम्युनल हार्मनी फोरम' को बढ़ावा दिया। महिला लेखिका और निर्भीक पत्रकार राणा अय्यूब की चर्चित पुस्तक 'गुजरात फाइल्स' का उन्होंने कन्नड़ में अनुवाद किया था। इससे भी एक खास विचारधारा के लोग उनसे परेशान थे। ज्ञातव्य है कि कुछ समय से श्रीराम सेना से उन्हें लगातार धमकियाँ मिल रही थीं। भाजपा के एक नेता ने उनके खिलाफ मानहानि का एक मामला भी दर्ज कराया था। राणा अय्यूब के मुताबिक-- 'बंगलुरू में या देश में वह अकेली महिला थीं जिनकी आवाज दक्षिणपंथी ताकतों के खिलाफ उठ रही थी। सम्भव है कि उनकी हत्या उन्हीं लोगों ने की हो।'' गौरी लंकेश एक निर्भीक पत्रकार थीं। कई अवसरों पर उन्होंने सम्भावित खतरे के बारे में अपने लोगों से कहा भी था। 'मैं एक सेकुलर देश की इनसान हूँ और सभी तरह की धार्मिक कट्टरता के खिलाफ हूँ।' जाहिर है धार्मिक उन्माद के खिलाफ उठ रही एक सशक्त आवाज व्यवस्था के हिंसक पशुओं ने दबा दी। बेशक कलबुर्गी, दाभोलकर और पानसारे की नृशंस हत्या भी इन्हीं कारणों से हुई। इन हत्याओं से जुड़े होने को लेकर बार-बार सनातन संस्था का नाम आ रहा है। लेकिन अपराधियों के खिलाफ प्रशासन की ओर से अब तक कोई प्रभावशाली कदम का नहीं उठाया जाना आजाद ख्याल नागरिकों और देश के चिन्तनशील अवाम की चिन्ता बढ़ा रहा है। दरअसल भ्रष्ट सत्ता-सियासत अपने वजूद को टिकाये रखने को लेकर सचेष्ट है। यकीनन एक सोची-समझी साजिश के तहत समाज सचेतन कलमकारों की हत्याएँ करवाई जा रही हैं। छद्म राष्ट्रवाद के नाम पर राष्ट्रीय संहति को पूरी तरह ध्वस्त करने की जो एक वीभत्स तैयारी चल रही है, उपरोक्त हत्याएँ उसी का पूर्वाभास करा रहीं है। आज पूरे देश में धार्मिक उन्माद और अन्धआवेग को जिस तरह बढ़ाया जा रहा है, उसका असर भी अब दिखने लगा है। विभिन्न धर्म-सम्प्रदाय के लोग परस्पर एक-दूसरे के खिलाफ उठ खड़े हो रहे हैं। यह राष्ट्रीय एकता के लिए शुभ संकेत नहीं है। राज्य के मँसूबे को समझते हुए निर्भीकता के साथ हमें अपनी आवाज और तेज करनी होगी। हमें अपनी लेखनी और अधिक धारदार बनानी होगी। इस अवसर पर फासीवाद विरोधी जर्मन कवि पास्टर निमोलर को याद करते हुए--

'पहले वे कम्युनिस्टों के लिए आये
मैं चुप रहा
क्योंकि मैं कम्युनिस्ट नहीं था।
फिर वे ट्रेड यूनियनों के लिए आये
मैं चुप रहा
क्योंकि मैं ट्रेड यूनियनिस्ट नहीं था।
फिर वे यहूदियों के लिए आये
और मैं चुप रहा
क्योंकि मैं यहूदी नहीं था।
फिर वे मेरे लिए आये
उस समय तक कोई नहीं बचा था
जो मेरे लिए बोलता।'

समय-संघर्ष के प्रतीक बन चुके अपने शहीद साथियों को याद करते हुए आइये हम अपनी आवाज को और अधिक तेज करें।

क्या बोली का जबाव गोली है?

--शैलेंद्र चौहान

5 सितम्बर की रात कर्नाटक की राजधानी बेंगलुरु में वरिष्ठ महिला पत्रकार गौरी लंकेश की उनके घर के बाहर ही कुछ अज्ञात हमलावरों द्वारा गोली मारकर हत्या कर दी गयी। इस तरह से पत्रकार की हत्या पर मीडिया से लेकर सोशल मीडिया में हंगामा होना तय था। गौरी लंकेश की मौत के बाद सोशल मीडिया पर मारने वालों की प्रशंसा और गौरी लंकेश के ऊपर गालियों की भरमार और घटियापन की इंतहा हो गयी। ऐसे ट्विटर हैंडल जिन्हें भारत के प्रधानमंत्री भी फॉलो करते हैं, पर गालियाँ देते हुए लिखा गया कि वो कुत्ते की मौत मरी। इस मामले में बहस तब और बढ़ गयी जब ट्विटर पर कुछ लोग गौरी लंकेश की हत्या को सही ठहराते हुए उनके बारे में आपत्तिजनक और अपमानजनक बातें लिखने लगे। इसी बीच सोशल मीडिया पर मोदी समर्थक निखिल दधीच नाम के एक व्यक्ति ने बेहद आपत्तिजनक और अमर्यादित भाषा का प्रयोग करते हुए गौरी लंकेश की हत्या को सही ठहराया, जिसे देश के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी तक फॉलो करते हैं। जिसके बाद कई सोशल मीडिया यूजर्स ने पीएम मोदी पर निशाना साधते हुए कहा था कि, वह ऐसे ट्रोल्स को बढ़ावा देते हैं। निखिल दधीच की एक तस्वीर सोशल मीडिया पर वायरल हो गयी जिसमें वह सूचना एवं प्रसारण मंत्री स्मृति ईरानी के साथ नजर आ रहा है। इस तस्वीर को समाजवादी पार्टी की प्रवक्ता पंखुरी पाठक ने भी अपने ट्विटर अकाउंट से शेयर किया। वहीं एक बेतुके बयान में सत्ताधारी दल ने कहा कि प्रधानमंत्री जिन लोगों को फॉलो करते हैं, उन्हें 'चरित्र प्रमाणपत्र' नहीं देते हैं। तब क्या हम ये मानकर चलें कि जो लोग भारत की सत्ताधारी पार्टी के समर्थक होने का दम भरते हैं, उनकी बेहूदा और गिरी हुई बातों की कोई निन्दा नहीं होगी? क्या ये ही सनातनी हिन्दू संस्कार हैं? एक महिला के प्रति इस कदर घटिया और शर्मनाक भाषा का प्रयोग आखिर क्या दर्शाता है? हम नहीं जानते कि गौरी लंकेश की हत्या किसने की लेकिन हम सोशल मीडिया पर देख सकते हैं कि उनकी मौत पर जश्न कौन मना रहा है और वे सभी भारतीय जनता पार्टी और मोदी के समर्थक हैं। प्रधानमंत्री अपने भक्तों के बर्ताव पर ऐतराज क्यों नहीं जाहिर कर सकते हैं? ऐसा शायद इसलिए है कि सरकार अपने जमीनी सिपाहियों को नाराज नहीं करना चाहती, जिनके दम पर उसका अस्तित्त्व निर्भर है। या फिर सरकार का उन पर नियंत्रण नहीं रहा और वह एक ऐसे शेर की सवारी कर रही है जिससे उतरना मुमकिन नहीं।

हत्या होने से पहले लिखे गये आखिरी सम्पादकीय में गौरी ने हिन्दुत्ववादी संगठनों एवं संघ की झूठे समाचार बनाने तथा लोगों में फैलाने के लिए आलोचना की थी। उन्होंने लिखा था कि- "इस हफ्ते के अंक में मेरे दोस्त डॉक्टर वासु ने गोएबल्स की तरह इंडिया में फेक न्यूज बनाने की फैक्ट्री के बारे में लिखा है। झूठ के ऐसे कारखाने ज्यादातर मोदी भक्त ही चलाते हैं। झूठ के कारखानों से जो नुकसान हो रहा है मैं उसके बारे में अपने सम्पादकीय में बताने का प्रयास करूँगी। अभी परसों ही गणेश चतुर्थी थी। उस दिन सोशल मीडिया में एक झूठ फैलाया गया। फैलाने वाले संघ के लोग थे। ये झूठ क्या है? झूठ ये है कि 'कर्नाटक सरकार जहाँ बोलेगी वहीं गणेश जी की प्रतिमा स्थापित करनी है। उसके पहले दस लाख जमा करना होगा। मूर्ति की ऊँचाई कितनी होगी, इसके लिए सरकार से अनुमति लेनी होगी। दूसरे धर्म के लोग जहाँ रहते हैं उन रास्तों से विसर्जन के लिए नहीं ले जा सकते हैं। पटाखे वगैरह नहीं छोड़ सकते हैं।' संघ के लोगों ने इस झूठ को खूब फैलाया। ये झूठ इतना जोर से फैल गया कि अन्त में कर्नाटक के पुलिस प्रमुख आर के दत्ता को प्रेस वार्ता बुलानी पड़ी और सफाई देनी पड़ी कि सरकार ने ऐसा कोई नियम नहीं बनाया है। ये सब झूठ है। इस झूठ का स्रोत जब हमने पता करने की कोशिश की तो वो जाकर पहुँचा पोस्टकार्ड डॉट न्यूज नाम की वेबसाइट पर। यह वेबसाइट पक्के हिन्दुत्ववादियों की है, इसका काम हर दिन फेक न्यूज बनाकर सोशल मीडिया में फैलाना है।

गौर कीजिये, 'केरल हिन्दू ऐक्य वेदी' के राज्य प्रमुख केपी शशिकला टीचर ने "सेकुलर लेखकों को महामृत्युंजय हवन कराने" की सलाह दी है ताकि उनका हश्र गौरी लंकेश जैसा न हो। ऐक्य वेदी आरएसएस समर्थक संगठनों का साझा मंच है। आठ सितम्बर को एर्नाकुलम में ऐक्य वेदी के कार्यक्रम में बोलते हुए शशिकला ने कहा कि आरएसएस उन लोगों को मारना नहीं चाहते जो उसके विरोधी हैं क्योंकि वह प्रतिरोध से ऊर्जा लेकर ही आगे बढ़ता है। शशिकला ने कहा, "ऐसी हत्याएँ कर्नाटक में कांग्रेस के लिए जरूरी है जो कमजोर स्थिति में है। मैं सेकुलर लेखकों से कहना चाहूँगी कि अगर वो लम्बा जीवन चाहते हैं तो उन्हें महामृत्युंजय हवन करना चाहिए क्योंकि ये भविष्य के बारे में कोई नहीं जान सकता। नहीं तो आप भी गौरी लंकेश की तरह शिकार बनोगे।" शशिकला ने कहा, "हिन्दुत्व के विरोध के लिए कृत्रिम

वजहें तैयार की जा रही हैं। संघ परिवार का विरोध होना चाहिए। आखिरकार, एक और खत्म हुआ। उसका क्या नाम था, गौरी। गौरी लंकेश! अब वे सब कह रहे हैं कि ये आरएसएस का काम है। आरोपी पकड़े नहीं गये हैं। कांग्रेस सरकार को दोषियों को पकड़ना है। कहा जा रहा है कि वह आरएसएस के विरोध के कारण मारी गयी।" शशिकला ने लेखकों पर आरएसएस का विरोध करने के लिए आरोप लगाते हुए कहा, "जो लेखक आरएसएस का विरोध करते हैं उन्हें ही लेखक माना जाता है। क्या आप ऐसे लेखक का नाम बता सकते हैं जो आरएसएस का विरोधी न हो? ऐसा कोई है जो आरएसएस के विरोध में न लिखता हो? जो आरएसएस के खिलाफ लिखता है उसे ही पैसा, पुरस्कार और पहचान मिलती है। सौ में नब्बे लेखक ऐसे ही हैं।" शशिकला ने कहा, "अगर आरएसएस मारना शुरू कर दे तो लेखकों का कुनबा नहीं बचेगा। जब आप आरएसएस के खिलाफ लिखना शुरू कर देते हो तो संघ परिवार समझ जाता है कि वह विकास कर रहा है।" गौरी की मौत के बाद मनाये जा रहे जश्न पर कानून मंत्री रविशंकर प्रसाद ने सामने आकर हैरानी जाहिर की और उनकी ही पार्टी के कैडर ने सार्वजनिक तौर से उन पर हल्ला बोल दिया। भारतीय जनता पार्टी की पूरी सरकार जवाहर लाल नेहरू यूनिवर्सिटी के उन 'देशविरोधी' छात्रों की निन्दा करने में जुटी थी जिन पर नारे लगाने का आरोप था, क्या अब एक मरहूम पत्रकार के खिलाफ नफरत का जहर उगलकर बोलने की अपनी आजादी पर बदनुमा दाग लगाने वालों की दिखावे के लिए भी निन्दा नहीं होगी, वह भी सिर्फ इसलिए कि वह सरकार और उसकी हिन्दू राष्ट्रवादी विचारधारा की कटु आलोचक थीं?

पत्रकार सागरिका घोष के अनुसार हम जैसे पत्रकार जो भारतीय संविधान की भावना के अनुरूप उदार धर्मनिरपेक्ष मूल्यों के पोषक हैं, ये मानते हैं कि पत्रकारों को ऐसे लोगों की आवाज बनना चाहिए जो दबे कुचले हैं, जो कड़वी सच्चाई बयाँ करते हैं और स्वच्छंद लोगों से असहज करने वाले सवाल पूछते हैं और मुश्किल में घिरे लोगों को सहारा देते हैं। पत्रकार की भूमिका अच्छाई और बुराई के बीच नीरस और घिसा पिटा 'भेद' करना नहीं। मेरे विचार में वह सामाजिक न्याय का सजग प्रहरी है और राजनीतिक तंत्र की निरंकुश शक्तियों के खिलाफ खड़ा होता है। गौरी की हत्या के बाद मेरा दम सा घुटता लगा। मैंने खुद को बेचैन और असहाय महसूस किया। मैं सिर्फ इसलिए नहीं हिल गयी हूँ कि मैंने एक सहयोगी को खो दिया है बल्कि अचानक मेरी ये उम्मीदें टूट गयी हैं कि क्या नफरत फैलाने और बाँटने वाली अन्धेरी ताकतों के खिलाफ जंग कभी जीती जा सकती है? क्या गौरी की मौत एक और चेतावनी है कि उदार और धर्मनिरपेक्ष लोग हारने वाले पक्ष में खड़े हैं? क्या असहमति का साहस दिखाने वालों को हत्या करके चुप करा दिया जायेगा? हमारे बीच से जो भी अन्धभक्ति, हिन्दुत्व के नाम पर होने वाले जुल्म और एक ऐसी सरकार के खिलाफ बोलते हैं जो गालियाँ देने वालों, धमकाने वालों और मृत्युदंड की चेतावनी देने वाले कथित हिन्दू राष्ट्रवादियों को कवच मुहैया करती नजर आती है, वह पहले से ज्यादा खतरे में महसूस होते हैं। क्या वजह ये है कि सच बोलने का मतलब अपनी जान समेत तमाम चीजों को खतरे में डालना है? पिछले चार सालों में यह चौथी बार है जब विवेकवादी, धर्मनिरपेक्ष, वामपंथी और हिन्दुत्वविरोधी लेखन में लगे किसी लेखक-पत्रकार की हत्या हुई है। महाराष्ट्र में 2013 में 68 वर्षीय नरेंद्र दाभोलकर और 2015 में 81 वर्षीय गोविंद पानसारे और 2016 में कर्नाटक में 77 वर्षीय एमएम कलबुर्गी की हत्या की गयी। अब 55 वर्षीय गौरी लंकेश की जान ले ली गयी। इन सभी हत्याओं को लगभग एक ही तरीके से किया गया है। कर्नाटक पुलिस आज तक कलबुर्गी की हत्या का मामला सुलझा नहीं पायी है। हाँ, यह जरूर है कि उसने इस तथ्य का पता लगा लिया है कि कलबुर्गी की हत्या में जिस पिस्तौल का इस्तेमाल हुआ है, वह वही है जिससे पानसारे की हत्या की गयी थी। यह भी पता चल चुका है कि जिन दो पिस्तौलों का इस्तेमाल पानसारे की हत्या करने के लिए किया गया था, उन्हीं में से एक से दाभोलकर को भी मारा गया था। यानी इन सभी हत्याओं के तार एक-दूसरे से जुड़े हैं। गौरी की हत्या भी शायद इसीलिए की गयी क्योंकि नरेंद्र दाभोलकर, पानसारे और कलबुर्गी की तरह उनके विचार भी तर्कशील थे। भारत के सुदूर इलाकों में प्रगतिशील मूल्यों की मशाल ले जाने वाले इन तमाम बेहद मूल्यवान लोगों की जीवन ज्योति को ऐसे लोगों ने बुझा दिया जो उनकी शक्तियों से डरते थे। जो जानते थे कि बहस में वे हार रहे हैं। गौरी लंकेश निडर, जुनूनी और जन्मजात विद्रोही थीं। वह तमाम क्षेत्रों में किसी के साथ भी पूरे अधिकार के साथ भिड़ जाती थीं और भारत की समतावादी परम्पराओं के हक में बोलने के अपने अधिकारों पर जोर देती थीं और हमारे देश की समृद्ध मूर्तिभंजक परम्पराओं को बचाए रखने में लगी थीं। जो लोग जातिगत अत्याचार, अन्धविश्वास, मजहबी नफरत, पोंगापंथ, देहात में रहने वाले गरीबों के शोषण जैसी समाज की छुपी बुराई- जो उन्हें बन्दूक उठाने के लिए मजबूर करती है- के खिलाफ बोलते हैं और जो अन्ध राष्ट्रवाद के खिलाफ जान जोखिम में डालकर संघर्ष करते हैं, गौरी की पत्रकारिता को उन्हीं से खाद-पानी मिलता था। पत्रकार गौरी लंकेश की हत्या ने फिर देश को झकझोर दिया है, वहीं कुछ लोग जश्न मना रहे हैं। अब लोगों को तय करना है कि क्या वे ऐसे माहौल में रहना चाहते हैं जहाँ बोली का जबाव गोली है। या एक स्वस्थ और स्वतंत्र समाज के निर्माण की दिशा में आगे बढ़ने को संकल्पबद्ध हैं।

आखिर क्यों लिया बीएचयू ने सालों बाद आक्रोश का रूप

--नेहा यादव

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना होने के लगभग सौ वर्ष बाद बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में इतनी भयावह स्थिति होना कोई महज छेड़छाड़ का ही एक मुद्दा नहीं बल्कि कई कारणों से सालों से भरा गुस्सा सड़कों पर आ गया। कई सरकारें आयीं कई चली गयीं लेकिन मनुवादी विचारधारा से भरे विश्वविद्यालय में महिलाओं के अधिकारों का दमन, विचारों का दमन होते चला गया, जिसका गुस्सा सड़कों पर दमन विरोधी मार्च में तब्दील हो गया। लड़कियों का मार्च शान्ति से चल रहा था कि अचानक भीषण तरीके से आखिर लाठीचार्ज किया गया। जबकि यह मार्च सिर्फ वीसी से मिलकर अपनी बात रखकर अपनी माँगे को पूरा करने करने के लिए था। लेकिन इस तरह से लाठीचार्ज कर छात्रों का मुँह बन्द करा दिया जायेगा यह किसी ने नहीं सोचा था।

छात्र-छात्राओ का यह भीषण आक्रोश केवल छेड़छाड़ का ही नहीं अपितु कई मुद्दों की आग को धधकता दिखा रहा था। पूर्व की घटनाओं के लोग भी अपना-अपना न्याय माँगने के लिए चिल्लाने लगे। ऐसा लग रहा था मानो किसी ने उन्हें सालों से कैद रखा हो और आज अचानक बाहर छोड़ दिया हो। छात्र-छात्राओं पर विश्वविद्यालय से निकाल दिये जाने का दबाव था और पूर्व छात्रों को आने वाले साक्षात्कार में चयनित न किये जाने की धमकियाँ झेलनी पढ़ रही थी, जो आज भी चल रही हैं। आगे भी उन चेहरों को शोध में नहीं लिये जाने का दुःख झेलना पढ़ सकता है। लगभग इन्हीं दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों में नियुक्तियों और पदोन्नतियों के लिए साक्षात्कार चल रहा था। विश्वविद्यालय प्रशासन पर नियुक्तियों में धाँधली के आरोप भी लग रहे थे। वंचित समुदाय के छात्र मनमाने ढंग से की जा रही नियुक्तियों को लेकर पिछले दो महीने से विरोध-प्रदर्शन कर विभिन्न संवैधानिक प्रावधानों के तहत प्रतिनिधित्व का अधिकार माँग रहे थे और विश्वविद्यालय प्रशासन की गतिविधियों पर नजर रखे हुए थे। विश्वविद्यालय प्रशासन न्यायालय के विरुद्ध मनमाने तरीके से फर्जी भर्ती करता चला जा रहा था। छात्रों के इसे रोकने की हर शक्ति कम सी हो गयी। कई दिनों पहले सातों दिन और चौबीस घंटे पुस्तकालय खुला रखने की वीसी से माँगे की गयी थी जिसके नाराज होकर वीसी ने कई छात्र-छात्राओं को निलम्बित कर दिया था।

यही नहीं बल्कि लगभग एक वर्ष पहले जन्तु विज्ञान, कला संकाय के डीन से लेकर मेडिकल व भूगोल तक के प्रोफेसरों पर शारीरिक शोषणों के आरोप लग चुके हैं। यहाँ तक कि बीएचयू के मेडिकल विभाग तथा सर सुंदरलाल अस्पताल के एमएस डॉ। ओपी उपाध्याय बलात्कार के घोषित आरोपी हैं किन्तु फिर भी वह कैम्पस में सम्माननीय व्यक्तियो में माने जाते हैं आखिर क्यों और कब तक आप पैसे से आरोपियों को बचाते रहेंगे?

इस सब महौल से भी छात्र-छात्राएँ छुब्द थे किन्तु कोई साथ नहीं मिल रहा था और दर्द एकदम टूटकर रो पढ़ा!

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्दर महिला महाविद्यालय जहाँ भेदभाव की निशानी मिलती हैं वहाँ समय पर प्रतिबंद्ध है। मेस में लड़किया नॉन वेज नहीं खा सकती तो छोटे कपड़े संस्कारमय नहीं होते तो इंटरनेट की सुविधा नहीं है। स्नातक प्रथम वर्ष की लड़किया मोबाइल इस्तेमाल नहीं कर सकती। बाकी लड़किया रात 10 बजे के बाद मोबाइल इस्तेमाल नहीं कर सकती। आखिर यह सभी रोक थाम लड़कों पर क्यों नहीं?

मुख्य कैम्पस में होस्टलों में प्रवेश का समय 8 बजे तक है। आखिर लड़कियों पर समय की पाबंदी क्यों? क्या 10 बजे तक भी होस्टल की छात्राएँ कैम्पस में सुरक्षित नहीं? खाने की हालत एकदम खराब जिसको किसी भी मानक से तय कर नहीं बनाया जा रहा है। साफ-सफाई का कोई ध्यान ही नहीं। छात्राएँ इन सभी प्रश्नों को काफी दिनों से उठा रही थीं जिन्हें सुना ही नहीं जा रहा था आखिर एक वीसी द्वारा इतनी मनमानी क्यों?

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का 'छात्र संघ' जिसकी बहाली को लेकर छात्र कब से प्रयासरत हैं किन्तु अभी तक अब तक उनकी आवाज को सुनकर अनदेखा कर दिया जा रहा है। जिस वाइस चांसलर के खुद के सपने राज्यपाल या सांसद बनने के हैं जो दिन रात मोदी जी के आगे-पीछे घूम रहे हों वह छात्र संघ बहाली को माहौल खराब करना समझते हैं आखिर कब तक छात्रों की आवाज को बन्द रखने के लिए उनका गला घोटा जाता रहेगा? यह आक्रोश दिखा रहा है कि छात्र-छात्राओं में जोश है अपने प्रतिनिधि चुनने का। आखिर सरकार भी इन्हीं छात्रों की देन है?

शोध छात्रों का एचआरए काट लेना किन्तु यूजीसी या सीएसआईआर नियम अनुसार होस्टल सुविधा न प्रदान करना तथा

उलटा वीसी का आरोप लगाना कि शोध के पैसों से छात्र गाड़ी व छात्राएँ दहेज के लिए पैसा इकट्ठा करती हैं उनकी इतनी नीची सोच है वे भला विश्वविद्यालय का क्या विकास करेंगे। इसको लेकर भी कई शोध छात्र-छात्राओं ने आवाज उठायी किन्तु उसे भी दबा दिया गया आखिर क्यों?

लगभग कुछ दिन पहले यूनाइटेड स्टूडेंट ओर्गेनाइजेशन के सदस्यों ने सभी केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के नियमो की माँगे एक करने हेतु पीएम, सीएम व एमएचआरडी तक को ज्ञापन दिये तथा आन्दोलन किये किन्तु उसे भी एक पक्षीय नजरंदाज कर दिया गया, जिससे छात्र आहत हुए।

बीएचयू कैम्पस के अंदर महिला प्रॉक्टर की माँग से लेकर महिला सिक्योरिटी गार्ड की माँग को भी नजरंदाज कर दिया गया।

जीएस कैश की माँगों को भी लागू नहीं किया गया आखिर क्यों?

अभी हुए मनमाने लाठीचार्ज के जुर्म में वीसी पर रिपोर्ट दर्ज करा मुकदमा क्यों नहीं दायर किया गया?

आखिर दृश्य कला विभाग ही क्यों बार-बार निशाने पर है। पहले एक लड़के के साथ अन्याय अब एक लड़की के साथ छेड़छाड़। आखिर कब तक? अभी कुछ दिन पहले एक समीर नामक छात्र को बिरला होस्टल के कुछ अराजक बाहरी छात्र बन्दूक की नोक पर क्लास में से प्रोफेसर के सामने से ले गये और हॉस्टल में ले जाकर उसकी पिटाई की किन्तु उन पर कोई कार्रवाई नहीं की गयी। एफआईआर के बावजूद आरोपी ऐसे ही आजाद घूमते रहे। जिसकी सजा दोबारा उस छात्र को मिली और स्केच तैयार करने गये इंस्पेक्टर के सामने छात्रों ने दबंगयी से दोबारा उस छात्र को पीटा तथा आरोपी आज भी आजाद राजनीतिक गुंडई करते घूम रहे हैं। आखिर दोबारा कहीं वे ही लड़के तो नहीं छेड़छाड़ के पीछे? क्यों नहीं पुलिस अभी तक आरोपियों को गिरफ्तार कर पायी। क्या यही आरोपी अब आन्दोलन प्रदर्शन करके हमें सुरक्षा देने की बात करेंगे?

आखिर आन्दोलन में हिस्सा लेने मात्र से शोध में प्रवेश न देने की धमकियाँ आखिर क्यों दी जा रही हैं। इसके लिए कौन जिम्मेदार होगा क्या वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग व बाहरी पैनल के जरिये साक्षात्कार होंगे या फिर वही मनमानी जो चल रही है वही प्रक्रिया चलेगी?

आखिर कैम्पस को पूर्ण सीसीटीवी व लाइटिंग युक्त क्यों नहीं किया गया है? इतना पैसा कहा जाता हैं?

कैम्पस में आने वाली नैक की टीम आखिर प्रयोगशाला की तरफ नजर क्यों नहीं फेरती जहाँ कोई समान ही नहीं। इस्तेमाल के लिए जहाँ सालों ुराना खराब समान भरा हुआ है। इससे छात्रों में आक्रोश बढ़ रहा है।

आखिर इस कैम्पस में लड़के-लड़की में अन्तर क्यों है। क्यों समय की पाबंदी हमें ही झेलनी पड़ रही है। क्यों नहीं ये सीमा खत्म की जा रही?

आखिरी प्रश्न किन्तु अन्तिम नहीं। वीसी के जाने से सुबिधाएँ नही आयेंगी। नियमों को माना जाये बदला जाये आरोपियों की पहचान कर पकड़ कर सजा दी जाये। लड़कियों को लड़को के बराबर स्थान दिया जाये।

छात्रों की माँगे पूरी हो सके उसके लिए छात्र संघ को सकारात्मक ऊर्जा के साथ बहाल किया जाये।

महिला सुरक्षा की जिम्मेदारी कैम्पस प्रसाशन द्वारा पूरी तरह निभायी जाये।

छात्राओं की अबाज बुलन्द हो सके इसके लिए बीएचयू छात्रा यूनियन भी बनायी जाये।

(सबरंग से साभार)

ऐ ताइर-ए-लाहूती उस रिज्क से मौत अच्छी

जिस रिज्क से आती हो परवाज म. कोताही

-- इकबाल

पृष्ठ 28 का शेष ...

स्त्रियों को लताड़ चुके हैं, हालाँकि शरद यादव के युवाकाल में जो 'परकटी' होती थीं, अब वे दादी-नानी बन चुकी हैं और अब उनकी पोतियाँ और नीतिनें अक्सर परकटी नहीं होतीं! फिर भी उनसे निजी रूप से पूछा जाये तो शायद वह सुप्रीम कोर्ट के इस फैसले को 'परकटावाद' की विजय कहना पसन्द करें!

तो एक शानदार फैसला राजनीतिक और सामाजिक पिछड़ेपन का शिकार बनने को बाध्य है। अगली आखा तीज पर राजस्थान आदि में वही होगा, जो होता आया है यानी बालविवाह धड़ल्ले से होंगे और राजनीतिक संरक्षण में होने दिये जायेंगे, जिसमें कांग्रेस-भाजपा की बराबर की हिस्सेदारी होगी। और जो बच्ची इस सामाजिक वातावरण में पली है कि उसका बाल-विवाह हुआ और वह जान न पायी कि यह क्या हुआ, वह ससुराल में आकर कितनी आग और कितना धुँआ पैदा कर सकती है कि वह नाबालिग होने के आधार पर बलात्कार की शिकायत कर सके? कौन मिलेगा वहाँ, उसका साथ देने वाला और उससे पहले यह बतानेवाला कि तम्हारा पति कानूनन बलात्कारी है और तुम उसके खिलाफ कानूनी लड़ाई लड़ सकती हो? हाँ अपवाद हो सकते हैं और अपवादों के बारे में मशहूर है कि वे नियम नहीं होते!

जहाँ शादी सौदा है, वहाँ बलात्कार का क्या काम?

--विष्णु नागर

सुप्रीम कोर्ट का बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय आया है कि जिस बच्ची का बाल विवाह हो चुका है, उसके 18 वर्ष की होने से पहले पति अगर यौन सम्बन्ध बनाता है और लड़की इसकी शिकायत एक साल के अन्दर करे तो पति पर भी बलात्कार सम्बन्धी वही कानून लागू होगा, जो अन्य ऐसे मामले में किसी अन्य पुरुष पर लागू होता है। इस फैसले से उम्मीद बँधी है कि दिल्ली उच्च न्यायालय में लम्बित 18 वर्ष से अधिक की पत्नी के साथ जबर्दस्ती यौन सम्बन्ध बनाने को भी बलात्कार की श्रेणी में लेने का निर्णय आ सकता है। पेंच यह है कि यह फैसला सभी धर्मों के मामले में समान रूप से लागू होगा तो हिन्दू-मुसलमान करने का मौका संघ-भाजपा को अधिक नहीं मिलेगा, हालाँकि ये 'आविष्कारी' लोग हैं, कोई न कोई बहाना इस राग छेड़ने का ढूँढ ही लेंगे। इसके बगैर उनका खाना नहीं पचता।

इस प्रगतिशील फैसले को कई कोणों से देखा जा सकता है और एक स्वस्थ लोकतांत्रिक बहस के लिए यह जरूरी भी है। हम केन्द्र सरकार का इसके बारे में रुख जानते ही हैं। यह मामला तीन तलाक का नहीं है, इसलिए प्रधानमंत्री, भाजपा अध्यक्ष बढ़चढ़ कर बोल नहीं रहे हैं, शान्त हैं। बाकी भी एकदम चुप से लगे कम से कम फैसले के दिन। जैसे ऐसा कुछ हुआ ही न हो या इतना महत्त्वपूर्ण न हो कि राजनीतिक दल जुबान खोलने की तकलीफ फरमायें। अदालत में केन्द्र सरकार का वकील कह चुका है कि विवाह की संस्था की पवित्रता की रक्षा के लिए अपवाद की व्यवस्था होनी चाहिए वरना बाल विवाह से जन्मे बच्चे समस्या में फँस जायेंगे। बहरहाल अदालत ने यह रास्ता सरकार के लिए नहीं खोला।

इस बहाने जरा संघ प्रमुख मोहन भागवत के उस भाषण को देखें, जो कुछ समय पहले उन्होंने इन्दौर में पति-पत्नी के रिश्ते को लेकर दिया था। विवाह संस्था की पवित्रता जैसा भी वह कुछ नहीं मानते और यह ध्यान रखें कि भागवत जी संघ प्रमुख रहते हुए जो कहते हैं, उसे उनकी व्यक्तिगत राय नहीं कहा जा सकता, न ऐसा कभी सफाई में कहा गया है। वह मानते हैं कि जिसे हम विवाह कहते हैं, वह पति और पत्नी के बीच 'सामाजिक सौदा' है। पत्नी घर सम्भालेगी, पति को 'सुख' देगी, जिसके बदले पति उसे रोटी-पानी देगा, उसे सुरक्षा प्रदान करेगा। पत्नी अगर यह कांट्रेक्ट पूरा नहीं करती, तो उसे छोड़ दो। फिर यह जोड़ने की सावधानी भी उन्होंने वैसे बरती कि पति भी सौदे की शर्तें पूरी न करे तो पत्नी उसे छोड़ दे यानी उनकी तरफ से दोनों को बराबरी के अधिकार हैं।

अब जहाँ पत्नी का काम घर सम्भालना और 'सुख' देना है और पति का काम उसकी सुरक्षा करना है, वहाँ पत्नी 18 साल की हो या चार साल की उससे यौन सम्बन्ध बनाने का 'अधिकार' पति को है। वहाँ न लड़की की उम्र आड़े आती है और न उसके अधिकार जैसी किसी चीज का अस्तित्त्व है। पति या पत्नी के बालिग-नाबालिग होने का प्रश्न ही पूरी तरह यहाँ अप्रासंगिक है। बलात्कार जैसी कोई चीज कांट्रेक्ट का, 'सौदे' का हिस्सा नहीं है। 'सुख' पति का 'अधिकार' है क्योंकि वह 'सुरक्षा' देता है। जब तक वह 'सुरक्षा' देता है, पत्नी को घर सम्भालने के साथ उसे 'सुख' देना है। घर सम्भालने में या 'सुख' देने में चूक पत्नी का अपराध है, जिस पर पति 'सौदा' तोड़ सकता है। जाहिर है कि 'सौदा' है तो 'सौदे' कि शर्तें माननी होंगी। और 'सौदा' चूँकि 'सामाजिक' है, इसलिए किसी दूसरे ने यानी दोनों माँ-बापों ने इसे तय कर दिया है और उन दोनों ने इसका अर्थ समझे बिना कर दिया है तो भी यह पति-पत्नी के बीच सौदा है क्योंकि समाज बीच में है और अगर लड़की एक महीने की और स्वजातीय लड़का एक साल का है तो भी वही समाज यह 'सौदा' तय करेगा, जो बाल विवाह, जातिवाद से लेकर लड़की की दहेज हत्या तक के हर कुकर्मों में विश्वास रखता है। तो यह 'सौदा' नाबालिग लड़की के साथ बलात्कार को भी मान्यता देता है और नाबालिग ही क्या अगर वह लड़की विवाहित है तो उससे 'विवाह-सुख' भोगने के असीमित अधिकार देता है, जिसमें पति को पत्नी के साथ बलात्कार करने का हक भी है, जिस पर हो सकता है कुछ समय बाद दिल्ली उच्च न्यायालय फैसला दे कि बलात्कार, बलात्कार ही है चाहे वह वयस्क पति करे।

अगर आपको याद हो कि अभी 2014 में एक चुनाव सभा में समाजावादी नेता मुलायम सिंह यादव बलात्कार को लड़कों द्वारा हो जानेवाली 'गलती' बता चुके हैं। अक्सर ऐसा 'औदार्य' आदमी में तब आता है, जब वह भी कभी ऐसी 'गलती' कर चुका हो, हालाँकि इस तरह मुलायम सिंह यादव के बारे में कुछ नहीं कहा जा रहा। दूसरे समाजवादी नेता शरद यादव महिला आरक्षण का विरोध करते हुए 'परकटी'

शेष पृष्ठ 27 पर...

डीजल-पेट्रोल की महँगाई : जनता पर लुटेरी नीतियों की मार

पेट्रोल-डीजल की लगातार आसमान छूती कीमतों पर काफी चिन्ता-आलोचना के बाद आखिर 3 अक्टूबर को केन्द्र सरकार ने इन पर लगने वाली केन्द्रीय एक्साइज ड्यूटी में 2 रुपये प्रति लीटर की कटौती कर दी। अब केन्द्र सरकार ने राज्य सरकारों से भी इन पर अपने वैट की दर में कटौती करने को कहा है। इसके पहले सरकारी प्रवक्ताओं, मंत्रियों का कहना था कि पेट्रोलियम उत्पादों के ऊँचे दाम बिल्कुल उचित हैं, साथ ही इसमें सरकार की कोई भूमिका नहीं है क्योंकि इनकी कीमतें बाजार नियमों के अनुसार तय करने के लिए पेट्रोलियम कम्पनियाँ स्वतंत्र हैं। यह तर्क भी दिया जा रहा था कि इन पर वसूल किये जाने वाले कर की रकम देश के विकास में लगती है, अतः देश हित में इन पर कर बढ़ाने को लेकर जनता को शिकायत नहीं करनी चाहिए, विशेष रूप से इसलिए क्योंकि इनका इस्तेमाल करने वाले लोग गरीब नहीं हैं और देश हित में वे अधिक दाम भी चुका सकते हैं। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहना शुरू कर दिया था कि पेट्रोल-डीजल की कीमतें बढ़ना अच्छा है क्योंकि इनके प्रयोग से प्रदूषण बढ़ता है इसलिए इनके मूल्य अधिक होने से इनके इस्तेमाल पर और परिणामस्वरूप बढ़ते प्रदूषण पर नियंत्रण लगेगा।

जिस शासन में रिजर्व बैंक, सीबीआई से लेकर सुप्रीम कोर्ट तक की स्वायत्तता पर प्रश्नचिन्ह लग रहे हो वहाँ सरकारी पेट्रोलियम कम्पनियों द्वारा बाजार नियमों से स्वतंत्र रूप से दाम तय करने की बात तो निहायत हास्यास्पद है ही, यह भी सवाल उठता है कि फिर सभी कम्पनियों के दाम एक साथ और एक ही मात्रा में कैसे बढ़ते हैं? साथ ही जब अन्तरराष्ट्रीय बाजार में कच्चे तेल के दाम लगभग 150 डॉलर प्रति बैरल से लगभग 50 डॉलर प्रति बैरल पर आ गये हों तो वह कौन सा बाजार नियम है जिससे पेट्रोल-डीजल के दाम बढ़ते-बढ़ते 80 और 70 रुपये प्रति लीटर पार करने लगे हैं! फिर उसी कच्चे तेल से निकलने वाले एटीएफ यानी हवाई जहाजों में इस्तेमाल होने वाले पेट्रोल की कीमतें बढ़ने के बजाय और कम होकर 48 रुपये प्रति लीटर कैसे हो गयीं है? असल में इन सबके पीछे सरकार द्वारा वसूले जाने वाले कर की दरें हैं। 1 अप्रैल 2014 यानी मोदी सरकार के सत्ता में आने के ठीक पहले पेट्रोल और डीजल पर प्रति लीटर केन्द्रीय कर क्रमशः 9.48 रुपये और 3.58 रुपये प्रति लीटर था। भाजपा सरकार ने तबसे इसमें 9 बार वृद्धि कर इसे 21.48 रुपये तथा 17.33 रुपये प्रति लीटर कर दिया है यानी 12 रुपये और 13.77 रुपये लीटर बढ़ा दिया। इसके साथ ही राज्य सरकारों ने भी वैट जैसे राज्य करों को बढ़ा दिया। इस वृद्धि के द्वारा सरकार ने जनता से पिछले तीन साल में साढ़े तीन लाख करोड़ रुपये अधिक कर वसूल किया। दूसरी ओर हवाई जहाज के पेट्रोल पर कर में वृद्धि नहीं की गयी, जिससे उसकी कीमतों में वृद्धि नहीं हुई।

वास्तविकता यह है कि पेट्रोल-डीजल की प्रति लीटर लागत सिर्फ 25 रुपये लीटर के लगभग है और कीमत में इसके ऊपर के 55 रुपये सरकार द्वारा वसूले गये कर और कम्पनियों-डीलरों के मुनाफे के हैं। इन सबके द्वारा की जा रही इस भयंकर मुनाफाखोरी का ही नतीजा है कि सारे पड़ोसी देशों के मुकाबले भारत में ही इन वस्तुओं के दाम आसमान छू रहे हैं, बाकी जगह इसकी तुलना में बहुत नीचे लगभग 40 से 60 भारतीय रुपये प्रति लीटर हैं। हद तो यह है कि नेपाल, भूटान, श्रीलंका या तो भारतीय कम्पनियों से ही पेट्रोल-डीजल खरीदते हैं या खुद इंडियन ऑयल वहाँ सीधे बिक्री करती है फिर यह कौन सा बाजार नियम है कि वहाँ कीमतें भारत से इतनी कम हैं, इंडियन ऑयल भारत से पेट्रोलियम उत्पाद वहाँ ले जाकर भारत से भी सस्ता कैसे बेच सकती है!

अगर इस बात को कुछ देर के लिए मान भी लिया जाये कि पेट्रोलियम पदार्थों का इस्तेमाल इनकी कीमत चुकाने में समर्थ कार, बाइक चलाने वाले अमीर लोगों द्वारा ही किया जाता है तो क्या हवाई जहाज में यात्रा करने वाले इतने गरीब हैं कि वह उसके लिए अधिक कीमत नहीं चुका सकते, इसलिए सरकार उसकी कीमतों में रियायत दे रही है? वास्तविकता तो यह है कि डीजल का व्यापक उपयोग रेल, बस, ट्रक जैसे वाहनों, कृषि-उद्योगों में इस्तेमाल होने वाले इंजनों-जेनरेटरों में होता है और इसकी कीमत बढ़ने का सीधा असर इनके यात्री किरायों, माल भाड़े और उत्पादों के मूल्यों में वृद्धि पर होता है, जिसका भारी असर आम गरीब मेहनतकश लोगों पर होता है यानी अन्तिम उपभोक्ता के रूप में इनकी बढ़ी कीमत उन्हें ही चुकानी पड़ती है।

सवाल यह भी पूछा जाना चाहिए कि क्या इन पर वसूले जाने वाले या और भी अन्य कर जो अन्त में उपभोक्ता के रूप में आम लोगों द्वारा ही चुकाये जाते हैं उनका प्रयोग वास्तव में देश के विकास में होता भी है? जो साढ़े तीन लाख करोड़ रुपये पेट्रोलियम पदार्थों पर कर बढ़ाने से एकत्र हुए उससे इस देश के नागरिकों का क्या विकास हुआ, उन्हें इससे क्या फायदा मिला? पिछले तीन सालों के बजट आँकड़ों को देखें तो आम जनता के लिए शिक्षा, इलाज, पोषण, महिला-बाल कल्याण, दलित-आदिवासी कल्याण, रोजगार योजना, आदि जैसी मदों में खर्च लगातार कम किया गया है। शिक्षा और चिकित्सा को पूरी तरह निजी हाथों में सौंपा जा रहा है और गरीब लोगों के लिए इनके रास्ते लगातार बन्द किये जा रहे हैं। इसमें आम जनता के विकास जैसा क्या है? अगर इससे इतना ही विकास होता है तो बेरोजगारी की स्थिति

निरन्तर भयावह क्यों होती जा रही है? दूसरे, अगर सरकार कर से वसूल रकम देश हित में प्रयोग करती है तो अमीर लोगों और कॉर्पोरेट द्वारा चुकाये जाने वाले प्रत्यक्ष करों-- कॉर्पोरेट और आयकर में हर साल छूट क्यों दी जाती है? क्या देश हित में अधिक कर चुकाकर कुरबानी करने की जिम्मेदारी सिर्फ गरीब लोगों की ही होती है?

जहाँ तक प्रदूषण का सवाल है, अगर उसको कम करने के लिए पेट्रोलियम पदार्थों का प्रयोग कम करने का मकसद ही हो तो सबसे पहले देश के हर हिस्से में अच्छे सार्वजनिक यातायात का प्रबन्ध करना चाहिए जिससे किसी को भी निजी वाहन इस्तेमाल करने की जरूरत ही महसूस न हो। लेकिन सरकारी नीतियाँ तो इसके ठीक विपरीत, सार्वजनिक यातायात की मौजूद व्यवस्था को भी नष्ट कर निजी कारों, बाइक, स्कूटर को ही बढ़ावा दे रही है, सड़कें, पुल, फ्लाईओवर, बाईपास, आदि की योजनाएँ भी इसी तरह बनाई जाती हैं कि निजी वाहनों के प्रयोग को बढ़ावा मिले। कारों जैसे निजी वाहनों की बिक्री को प्रोत्साहित करने के लिए उन्हें कर में भी छूट दी जाती है। यहाँ तक कि बसों पर लगने वाले कर कारों की तुलना में अधिक हैं।

वास्तव में सरकार द्वारा पेट्रोलियम उत्पादों की कीमतें बढ़ाते जाने के पीछे बस एक ही बाजार नियम काम करता है, वह है नियंत्रित कीमतें बढ़ाकर या एक्साइज, वैट, जीएसटी और इन पर तमाम किस्म के सरचार्ज लगाकर आम मेहनतकश लोगों को जो थोड़ी बहुत आमदनी वेतन-मजदूरी, आदि के रूप में होती है उसका भी एक हिस्सा इन अप्रत्यक्ष करों के रूप में उनकी जेब से निकाल लिया जाये और इससे शासक पूँजीपति वर्ग को कर छूट, सब्सिडी, इनसेंटिव, कर्ज माफी, शुल्क माफी, बेल आउट पैकेज, आदि के नाम पर उनके मुनाफे और पूँजी बढ़ाने के लिए दे दिया जाये।

--मुकेश असीम

बैंकों की खुलेआम डाकेजनी

जनता के साथ "अच्छे दिन" का वादा करके सत्ता में आयी भाजपा सरकार देश की गरीब मेहनतकश जनता की गाढ़ी कमाई पर संस्थागत डाकेजनी करने पर उतर आयी है। बैंक देश की जनता को मनमाने तरीके से लूट रहे हैं।

दिसम्बर 2014 से पहले कार्डधारक अपने बैंक के एटीएम से बिना शुल्क पैसे निकाल सकता था। कार्डधारक अन्य बैंकों के एटीएम से 5 बार निःशुल्क पैसा निकाल सकता था। बाद में बैंकों ने दूसरे बैंकों के एटीएम से पैसा निकालने की सीमा तीन बार निर्धारित कर दी। इससे ज्यादा बार रुपये निकालने पर 20 रुपये का शुल्क लगाया गया। लेकिन अप्रैल 2017 में स्टेट बैंक ऑफ इंडिया (एसबीआई) ने मनमाने ढंग से कानून लाद दिया कि अपने ही बैंक से 5 बार से अधिक पैसे निकालने पर 10 रुपये अतिरिक्त शुल्क लगेगा, साथ ही दूसरे बैंकों के कार्डधारकों पर यह अतिरिक्त शुल्क 20 रुपये है। इस नियम में यह भी शामिल है कि यदि तीसरी बार निकाली गयी रकम 1000 रुपये से कम है तो खाताधारकों को 50 रुपये के जुर्माने के साथ सेवा शुल्क भी चुकाना होगा। जबकि आरबीआई का नियम है कि खाताधारक एक महीने में पाँच बार अपने खाते से निःशुल्क रकम निकाल सकता है। इतना ही नहीं इन्टरनेट से 20,000 की खरीददारी पर बैंक 200 रुपये काट लेते हैं।

एसबीआई का एक दूसरा नियम कहता है कि 25,000 से कम रकम दो बार से ज्यादा निकालने पर 50 रुपये जुर्माना व सेवा शुल्क लगेगा। इसमें मजेदार बात यह है कि अगर खाताधारक 50,000 से 1,00,000 रुपये तक निकालता है वो भी 15 बार तो उसे मात्र 10 रुपये का ही शुल्क देना होगा। इसका मतलब है कि कोई गरीब आदमी अपनी जरूरतों के लिए सौ, पाँच सौ रुपये निकाले तो उसे पर 50 रुपये का जुर्माना और जो लाखों का लेन-देन करें उस पर केवल 10 रुपये।

लूट के ऐसे-ऐसे नियम बनाकर बैंकों ने पिछले वर्ष में इस मद में होने वाली आय में 378 फीसदी की वृद्धि की है। 2015-16 में बैंकों की ऐसी आय 310.44 करोड रुपये थी वहीं वर्ष 2016-17 में उनकी यह आय बढ़कर 1484.10 करोड़ रुपये तक पहुँच गयी।

बात सिर्फ यहीं तक नहीं रुकी बैंकों ने बचत खातों में न्यूनतम अनिवार्य राशि की सीमा बढ़ाकर भी जनता की जेब खूब काटी। बैंकों ने खातों की न्यूनतम राशि जो 500 से 1000 रुपये थी, को अप्रैल में बढ़ाकर 5000 रुपये कर दी। इससे कम राशि खाते में रहने पर 50 से 100 रुपये का जुर्माना लगा दिया। यह मनमाना कानून थोपकर अकेले एसबीआई ने मात्र तीन महीने में ही गरीब जनता से 250 करोड़ रुपये से ज्यादा वसूले।

एक तरफ तो बैंक गरीब जनता की लाचारी बेबसी का फायदा उठाकर अपनी तिजोरी भर रहे हैं। वहीं दूसरी तरफ बैंकों का अरबों रुपये का कर्ज डकारने वाले पूँजीपतियों को तरह-तरह की रियायते दी जा रही हैं। यह सरकार की मेहनकश जनता पर सीधी-सीधी संस्थागत डाकेजनी है।

--सचिन कुमार

सरकार ने निमोनिया के खारिज टीके का पेटेन्ट क्यों मंजूर किया?

अगस्त महीने में भारत के पेटेन्ट कार्यालय ने दैत्याकार अमरीकी दवा कम्पनी फाइजर को निमोनिया के टीके का पैटेन्ट मंजूर किया। न्यूमोकोक्कल कन्जुगेट वैक्सिन (पीसीवी) जो बाजार में प्रेवनार-13 के नाम से बिकती है, उसको पेटेन्ट देना भारत की सार्वजनिक स्वास्थ्य बिरादरी के लिए एक भौचक करने वाली घटना है। भारत में पेटेन्ट मंजूरी के मापदण्ड बाकी देशों से कठोर हैं। ऐसे में जिस दवा को यूरोपीय संघ ने नामंजूर कर दिया था और कई अन्य देशों में भी जिसे चुनौती दी जा रही है, उसे स्वीकारने का सरकारी फैसला दिमाग चकरा देता है। फाइजर का टीका प्रेवनार-13 का दूसरी कम्पनियाँ इसलिए कड़ाई से विरोध कर रही है क्योंकि इसके दावे में साफ तौर पर न तो नयापन है और न ही मौलिकता।

भारत में इस दावे को दवा कम्पनी पनेसिया बायोटेक और वैश्विक मानवतावादी संगठन मेडिसिन्स सान्स फंटीयेरेस (एमएसएफ) ने चुनौती दी थी। इस टीके को पेटेन्ट देने पर उठने वाले सवाल के पीछे कई कारण हैं। 2014 में फाइजर की दो प्रतियोगी कम्पनियों को यूरोपीय संघ में इस पेटेन्ट को रद्द करवाने में सफलता मिली थी, हालाँकि इस मामले में अन्तिम फैसला अभी आना है। भारत में यूरोपीय संघ से भी कड़े पेटेन्ट मापदण्ड हैं फिर पेटेन्ट कार्यालय ने फाइजर के दावों को सही कैसे मान लिया।

आम अनुमान यही है कि मौजूदा राजग सरकार अमरीकी दवा कम्पनियों के उकसावे पर वहाँ की सरकार के दबाव में झुक गयी। आज यह दबाव काफी बढ़ गया है क्योंकि भारत और अमरीका के बीच द्विपक्षीय व्यापार समझौता लागू होना है। चाहे जो भी वजह हो, पेटेन्ट कार्यालय के इस फैसले ने एक गलत नजीर कायम की है।

2012 में मार्क कम्पनी ने पेटेन्ट का विरोध करते हुए कहा था कि यह टीका नयी खोज नहीं बल्कि इसे पुराने टीके में ही 6 तरह की सेरोटाइप मिलाकर बनाया गया है। भारत के पेटेन्ट कानून की धारा 3-डी के तहत इस आधार पर प्रेवनार-13 का पेटेन्ट खुद ब खुद खारिज हो जाता है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि अब इस मंजूरी के खिलाफ प्रतियोगी कम्पनियों को यूरोपीय संघ में मुकदमा लड़ना होगा जो काफी कठिन है और इसका फैसला भी देर से आता है।

इस तरह से पेटेन्ट मंजूर किये जाने का सीधा असर भारत में नये टीके की खोज और उसकी कीमतों पर पड़ेगा। दुनिया भर में हर साल 10 लाख बच्चे निमोनिया से मर जाते हैं, जो बचाये जाने लायक मौतों का एक प्रमुख कारण हैं। भारत में 2 लाख बच्चों की मौत निमोनिया से होती है और 5 साल से कम उम्र में होने वाली बालमृत्यु की एक बड़ी वजह निमोनिया ही है। जब मई महीने में इस चर्चित टीके को केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय ने सर्व टीकाकरण कार्यक्रम में शामिल किया तो काफी खुशी मनायी गयी। इस काम को आसानी से किये जाने के पीछे वजह यह है कि एक विदेशी संस्था ने पीसीवी टीके को कम कीमत पर यानी 500 रुपय प्रति बच्चा मुहैया करने का वादा किया है। लेकिन यह शर्त सिर्फ तीन साल के लिए है। उसके बाद क्या प्रति खुराक 11000 रुपये में टीका लगवाने का खर्च सरकार उठायेगी और क्या टीकाकरण का यह कार्यक्रम जारी रह पायेगा।

पेटेन्ट की इस मंजूरी से फाइजर कम्पनी को 2026 तक इस टीके पर एकाधिकार कायम हो गया। इसने दूसरी कम्पनियों द्वारा सस्ती जेनरिक दवा बनाने की सम्भावना को कुचल दिया। इस कीमत पर भारत ही नहीं, बल्कि बहुत सारे दूसरे देश भी दवा नहीं खरीद पायेंगे। जो मानवतावादी संस्थाएँ। अपने मुफ्त टीकाकरण कार्यक्रम चलाती है उसके लिए भी काम करना कठिन हो जायेगा। दूसरी ओर फाइजर और ग्लेक्सो जैसी कम्पनियों की कमाई में भरपूर इजाफा होगा जिन्होंने पिछले आठ सालों में 4000 करोड़ डॉलर की कमाई सिर्फ पीसीवी टीके की बिक्री से की है। एक-दो दवा कम्पनियों की कमाई को लाखों बच्चों की मौत पर तरजीह देने वाली सरकार को क्या कहा जाये?

(साभार डाउन टू अर्थ, लता जिश्नू)

अगर अवाम
जिन्दगी को चुन ले
(आजादी समेत)
मुकद्दर साथ देगा
और कार्रवाई करेगा
अंधेरा
यकीनन दूर हो जाएगा
और जंजीरें
लाजिमी तौर पर
टूट जाएँगी

ट्यूनीशियाई कवि अब्दुल कासिम अल-शाबी (1909-1934)

चीनी आयात का गन्ना किसानों पर मार

खेतों में गन्ने की फसल पककर तैयार है। गन्ने का पेराई सत्र 2017-18 चालू होने में केवल कुछ समय की देरी है। लेकिन मिल मालिक किसानों के पिछले सत्र का भुगतान अभी तक दबाये बैठे हैं। किसानों के बकाया को जल्दी-जल्दी देने के न्यायालय के आदेशों को भी मिल मालिकों ने धता बता दिया है, जबकि केन्द्र और राज्य सरकार मुँह में दही जमाये बैठी है। गजब तो इस बात का हो गया कि देश में चीनी का पर्याप्त कोटा होने के बावजूद सरकार ने मिल मालिकों को अप्रैल में 5 लाख टन कच्ची चीनी शून्य सीमा शुल्क पर आयात करने की छूट दी। जबकि सीमा शुल्क 40 फीसदी था। इसके अलावा 5 सितम्बर को 25 फीसदी सीमा शुल्क पर आयात करने की अनुमति दी गयी। जबकि इस बार सीमा शुल्क 50 फीसदी था।

इंडियन मिल्स एसोसियेशन की अध्यक्ष सरिता रेड्डी का कहना है कि देश में 35 लाख टन चीनी का पर्याप्त भण्डार है, अक्टूबर महीने में जो त्योंहारों का सीजन होता है इसमें कुल खपत 25 लाख टन चीनी की है। वे आगे कहती हैं कि देश की जरूरत के लायक चीनी हमारे पास मौजूद है। अक्टूबर महीने में जब पेराई शुरू हो जाती है तब चीनी का आयात क्यों किया जा रहा है?

केन्द्र सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में लिखित बयान दिया है कि वह स्वामिनाथन कमेटी की रिपोर्ट को लागू नहीं कर सकती है। इसलिए केन्द्र सरकार ने चालू सत्र के लिए गन्ने का एफ आर पी 255 रुपये तय किया है। इस पर मुहर लगाते हुए योगी सरकार ने कहा कि इससे ज्यादा गन्ने का भाव बढ़ाने पर मिल मालिक नाराज हो जायेंगे। अब मालिकों के दोनों हाथों में लड्डू है। कच्ची आयातित चीनी का कुल खर्च, जिसमें आयात लागत, बन्दरगाह से रिफाइनरी तक ढुलाई खर्च, शोधन लागत और तीन महिनों की पूँजी पर ब्याज लगाने के बाद 31,800 रुपये प्रति टन बैठता है, जो देशी चीनी से 4000-6000 रुपये प्रति टन सस्ता ही है यानी एक टन विदेशी चीनी आयात करने पर मिल मालिकों को 4000 से 6000 रुपये का अतिरिक्त मुनाफा मिल जाता है।

मिल मालिकों को 5 लाख टन कच्ची चीनी पर से 40 फीसदी आयात शुल्क को शून्य करने से 636 करोड़ रुपये और 3 लाख टन कच्ची चीनी से आयात शुल्क में 25 फीसदी छूट देने पर 238.5 करोड रुपये की शुद्ध बचत हो गयी। मिल मालिकों का मुनाफा तेजी से बढ़ रहा है लेकिन गन्ना किसानों की हालत खराब होती जा रही है।

सरकार की कोई भी नीति जनता के फायदे के लिए नहीं होती। सरकार जिस वर्ग या समुदाय के साथ खड़ी होती है, उसी के फायदे के लिए काम करती है। मौजूदा सरकार किसानों के खिलाफ मिल-मालिकों और पूँजीपतियों के पाले में खड़ी है और उन्हीं के फायदे के लिए काम कर रही है। उन्हीं के लिए नये कानून और नयी नीतियाँ बनाती है। किसान एक हद तक अपनी बात तभी मनवा सकते हैं जब वे सरकार की किसान विरोधी नीतियों के खिलाफ एकजुट हो संघर्ष करें। इससे किसानों को कुछ तात्कालिक सहूलियत मिल सकती है लेकिन इसके बावजूद उनकी दशा में आमूल-चूल परिवर्तन तभी होगा, जब उन आर्थिक नीतियों को खत्म कर दिया जाये जिनसे न केवल भारत के बल्कि भारत जैसे दूसरे गरीब देशों के भी किसान बुरी तरह परेशान हैं। ये आर्थिक नीतियाँ डंकल प्रस्ताव के जरिये से भारत पर थोप दी गयी थी।

आखिर ऐसी क्या वजह है कि सरकार और मिल-मालिकों के आगे हमारे किसान लाचार नजर आ रहे हैं? क्यों दिनोंदिन उनकी हालत खराब होती जा रही है? 1994 में भारत सरकार डंकल प्रस्ताव में शामिल हुई जिसके चलते डंकल की कई शर्तें सरकार को माननी पड़ी। उनमें से एक शर्त यह है कि गरीब देशों में कृषि में जितना भी पैदा होगा उसका 10 फीसदी पहली दुनिया के देशों से आयात करना ही पड़ेगा। चाहे उसके कारण गरीब देशों के किसान बर्बाद हो जायें। सरकार को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसी ही तमाम नीतियों के चलते देश में हर रोज 48 किसान अपनी जीवन लीला समाप्त करने को मजबूर हैं।

इन नवउदारवादी नीतियों के चलते मुठ्ठी भर देशी-विदेशी सरमायदारों को लूट की खुली छूट मिल गयी है। इसकी कीमत चुकाते हैं हमारे देश के किसान, मजदूर और नौजवान-- क्योंकि सरकार फसलों के वाजिब दाम किसानों को नहीं दिलाती और पैसे की तंगी का रोना-रोने लगती है। जबकि किसानों के दम पर ही नेताओं की कुर्सी चमकी रही है। सरकार चाहे किसी पार्टी की हो, वे किसानों को ठगने के मामले में एकजुट हैं। ये एक-दूसरे को कोसकर नवउदारवादी नीतियों को ही और तेजी से लागू करती हैं। यह नये तरीके की आर्थिक गुलामी ही किसानों, मजदूरों और तमाम मेहनतकशों की ठंडी मौतों की जिम्मेदार है। जब तक किसान एकजुट होकर इस अन्याय के खिलाफ संघर्ष नहीं करते, तब तक न तो उन्हें उनकी फसलों के वाजिब दाम मिल सकते हैं और न ही उन्हें उनका हक मिल सकता है।

अम्बुज

सफाईकर्मियों की मौत पर एक रिपोर्ट?

दिल्ली और एनसीआर में पिछले दो माह से लगातार सीवरों में दुर्घटना होने की खबरें आ रही हैं। इन दुर्घटनाओं में कम से कम 15 लोगों की जान जा चुकी है। अभी हालिया घटना 21 सितम्बर, 2017 को नोएडा के सेक्टर 110 के बीडीएस मार्केट के पास घटी जिसमें विकास, राजेश और रवीन्द्र की जान चली गयी। ये तीनों मृतक आपस में मामा, भाँजे, भाई थे। हम उस परिवार के हालात समझ सकते हैं जिसके घर में माँ-बेटी ने एक साथ अपने बेटे को खोया हो। विकास, राजेश और रवीन्द्र झारंखड के गोड्डा जिले के रहने वाले थे और अपने परिवार के साथ नोएडा सेक्टर 9 की झुग्गियों में रहते थे।

सबसे पहले मैं विकास के घर पहुँचा। विकास के घर जाने का जो रास्ता है उससे कोई भी अनजान व्यक्ति घर तक नहीं पहुँच सकता। गलियाँ इतनी तंग थी कि दो व्यक्ति साथ गुजरे तो दोनों के शरीर दीवार से सट जायें, ऊपर से जगह के अभाव में लोगों ने गलियों को भी ढंक दिया है जिससे कि उनके रहने के लिए थोड़ी और जगह मिल जाये।

जब मैं विकास के घर पहुँचा तो बिजली नहीं थी, घर में अन्धेरा था, 6 गुणा 6 के उसी अन्धेरे कमरे में विकास की माँ, बहन, नानी, पिता, मामा शोकाकुल बैठे हुए थे। माँ और नानी दोनों का रो-रो कर बुरा हाल था। विकास के पिता उपेन्द्र शाह रिक्शा चलाते हैं जिससे वह दुकानों के माल एक जगह से दूसरे जगह पर पहुँचाते हैं, माँ किसी फैक्ट्री में 4000 रुपये पर काम करती हैं। बहन बारहवीं कक्षा में पढ़ती है। विकास अपने परिवार की आर्थिक स्थिति को देखते हुए पढ़ाई के साथ-साथ काम भी करने लगा था ताकि परिवार को इस अन्धेरे कमरे से निकाल सके। इसी कारण बारहवीं करने के बाद विकास ओपन से ग्रेजुएशन की पढ़ाई कर रहा था और अपने मामा राजेश के साथ 350 रुपये पाने के लिए काम पर जाने लगा। रोज की तरह विकास अपने मामा राजेश, भाई रवीन्द्र और अखिलेश तथा बस्ती के दो और लोगों के साथ सेक्टर 27 में गया। वहाँ जाने के बाद राजेश के पास ठेकेदार सोनबीर का फोन आया 110 सेक्टर जाने के लिए। राजेश, विकास और रवीन्द्र 110 सेक्टर के बीडीएस मार्केट पहुँचे। बीडीएस मार्केट के बाहर पान का खोखा लगाने वाले एक विकलांग दुकानदार ने बताया कि सबसे पहले उन्होंने उसके पास के सीवर को साफ किया। दुकानदार ने उन सफाईकर्मियों से कहा कि जल्दी सीवर को बन्द कर दें बदबू आ रही है तो उन्होंने 5 मिनट की मोहलत मांगी और सीवर सफाई करके थोड़ी दूर पर दूसरे सीवर की सफाई करने लगे जिसमें उनकी मौत हो गयी। दुकानदार के अनुसार यह घटना करीब दो-ढाई बजे की है। एक महिला ने बताया कि जब वह 6 बजे के करीब ड्यूटी से अपने घर को लौट रही थी तो लाश को निकाला जा रहा था। वहाँ पुलिस मौजूद थी और लोगों को रुकने नहीं दे रही थी। सवाल यह है कि इस घटना के तीन से चार घंटे तक प्रशासन क्या करता रहा? जब ये तीन लोग काम पर गये तो इनको सुरक्षा उपकरण क्यों नहीं दिये गये, वहाँ पर कोई जिम्मेवार अधिकारी क्यों नहीं था?

राजेश अपनी पत्नी चमेली और तीन साल की बेटी अंजली के साथ सेक्टर 9 की झुग्गी में 2200 रुपये के किराये पर रहते थे। राजेश की शादी 2008 में हुई तब से वह पत्नी के साथ यहीं रह रहे थे और ठेकेदार सोनबीर के पास काम कर रहे थे। चमेली तीन माह की गर्भवती है और ऊपर से पति के मरने का दुख उनके जीवन पर भारी पड़ रहा है। चमेली बताती हैं कि वह प्रतिदिन 5 बजे के करीब राजेश को फोन करती थी। घटना वाले दिन जब उसने राजेश को फोन किया तो राजेश का फोन बन्द था, उसके बाद विकास को फोन किया उसका भी फोन बन्द था, रविन्द्र के फोन पर घंटी जा रही थी लेकिन कोई फोन उठा नहीं रहा था। ठेकेदार को फोन करने पर उसका फोन भी स्विच ऑफ जा रहा था। कुछ समय बाद चमेली ने राजेश के दोस्त बबलेश शर्मा को फोन किया तो उन्होंने कहा कि तुम सेक्टर दस आ जाओ। चमेली के सेक्टर दस पहुँचने पर बबलेश अपनी बाइक से सेक्टर 34 के अस्पताल ले गये। उसके बार-बार पूछने के बाद भी उसे कुछ नहीं बताया गया। अस्पताल में पुलिस वाले ने चमेली को राजेश की लाश दिखायी। चमेली के रोने पर पुलिस ने चमेली और बबलेस को गाड़ी में बैठा लिया और कुछ दूर ले जाकर उन्हें छोड़ दिया और बबलेश से कहा कि इसे घर ले जाओ। गर्भवती महिला जिसका पति अभी-अभी अकाल मौत के मुँह में डाल दिया गया हो उसकी क्या हालत हो रही होगी, ऐसे में पुलिस द्वारा बीच रास्ते में गाड़ी से उतार देना पुलिस की अमानवीय छवि को दर्शाता है।

विकास के पिता भूप सिंह को भी उनके बेटे की मौत की खबर उनके गाँव के लोगों से मिली। वे सेक्टर 34 के अस्पताल गये और पुलिस में शिकायत दर्ज करनी चाही। पुलिस ने घटना स्थल फेस 2 थाने

को बताया और वहीं जाकर रिपोर्ट दर्ज कराने की बात कही। जब वे फेस 2 थाने पहुँचे तो उनसे कहा गया कि ''सुबह 8 बजे आना मामला दर्ज हो जायेगा''। भूप सिंह बताते हैं कि वे रात में शवगृह के पास थे, रात के दो बजे डॉक्टर को पोस्टमार्टम के लिए बुलाया गया। इस पर झुग्गी के लोगों ने काफी संख्या में पहुँच कर जुझारू विरोध किया तो पोस्टमार्टम को रोक दिया गया और डॉक्टर को वापस जाना पड़ा। भूप सिंह का कहना है कि पुलिस चाह रही थी कि बिना रिपोर्ट दर्ज किये मामले को दबा दिया जाये। यहाँ तक कि परिवार वालों को दुर्घटना के बारे में जानकारी अलग-अलग माध्यमों से मिली। पुलिस-प्रशासन का कोई भी व्यक्ति उनको इस घटना की जानकारी देने नहीं गया। इससे पता चलता है कि पुलिस-प्रशासन की मंशा ठीक नहीं थी।

विकास की माँ सविता बताती है कि पुलिस ने उसकी लाश को शवगृह से निकाल कर नहीं दिखाया और उनसे कहा कि खुद जाकर पहचान कर लाश निकाल लाओ। सविता के अनुसार कुछ लोगों ने लाश निकालने की कोशिश की लेकिन बदबू के कारण वह लौट आये। अन्त में विकास का दोस्त सलीम जाकर तीनों के शवों को निकाल कर बाहर लाया और उनका अन्तिम क्रिया कर्म किया गया। इन लाशों के अन्तिम क्रिया कर्म के लिए प्रशासन द्वारा कोई भी सुविधा पीड़ित परिवारों को नहीं दी गयी।

इस घटना के तीन दिन बाद जब हम घटना स्थल पर पहुँचे तो उसी सीवर की सफाई का काम चल रहा था। यहाँ पर पानी निकासी के लिए एक पम्पिंग सेट लगा था लेकिन वह खराब था। पास खड़े मजदूर पम्पिंग सेट में पानी डाल रहे थे जिससे कि वह पानी को निकाल पाये। इससे यह पता चलता है कि यूपी की सरकार कितनी कुंभकर्णी नींद में सो रही है कि इतनी बड़ी घटना के बाद भी वहाँ पर किस तरह की मशीन नहीं लगायी गयी है और चार दिन बाद भी उस सीवर की सफाई नहीं की जा सकी है।

नोएडा के 110 सेक्टर का इतिहास 2004 से शुरू होता है। यह इलाका बहुत ही उजाड़ था। यहाँ सबसे पहले 'श्रमिक कुंज' के नाम से एक कमरे के, दो मंजिला 920 घर बनाये गये और उसको मजदूरों के लिए एलाट किया गया। जब वहाँ मजदूर बस गये तो वहाँ लोट्स और केन्द्रीय सोसायटी जैसी बहुमंजली इमारतें बनाकर धनाढ्य लोगों को बसाया गया। यानी पहले मजदूरों को बसाया गया जिससे कि बहुमंजली इमारतों में रहने वालों के लिए सेवक मिल सकें। जब उनके सीवर जाम हो जाते हैं तो अन्धेरी जगह में रहने वाले लोगों को ले जाकर अन्धेरी सीवर में उतार दिया जाता है जहाँ पर असमय वह काल के ग्रास बन जाते हैं।

यह घटना न तो पहली है और न अन्तिम, इससे पहले दिल्ली के छत्तरपुर, लाजपतनगर, कड़कड़डूमा, एलएनजेपी अस्पताल, मुंडका और नोएडा सेक्टर 52 में इस तरह की घटनाएँ दो माह की अन्दर घट चुकी हैं। ऐसा नहीं है कि इस तरह की मौतें दिल्ली, एनसीआर या देश के बड़े शहरों में ही हो रही हैं। 9 सितम्बर को ही बिहार के सिवान जिले में 4 लोगों की मौत सीवर सफाई के दौरान हो गयी। इस तरह से भारत में हर साल सैकड़ों की संख्या में सीवर सफाईकर्मियों की मौत होती है जिसका सरकार के पास कोई निश्चित आँकड़ा तक उपलब्ध नहीं है। हर मौत के बाद मशीन से सफाई कराने का फरमान जारी किया जाता है लेकिन नतीजा फिर वही ढाक के तीन पात। यहाँ तक कि केन्द्र सरकार ने 2013 में 'प्रोहिबिशन ऑफ एंप्लॉयमेंट मैनुअल स्कैंवेंजर एंड देयर रिहैबिलिटेशन एक्ट' कानून पास किया है। जिसके अन्तर्गत किसी भी व्यक्ति को सीवर में नहीं उतारा जायेगा। इसके अलावा 2014 में सुप्रीम कोर्ट, 1996 में बाम्बे हाई कोर्ट का निर्देश है कि सीवरों में किसी व्यक्ति को नहीं उतारा जाये और अगर आपात स्थिति में जरूरत पड़ी तो सभी सुरक्षा उपकरण के साथ, अधिकारियों, एम्बुलेंस और फायर बिग्रेड की उपस्थित में ही कोई व्यक्ति सीवर में उतरे। इसके अलावा सन् 2000 में मानवाधिकार आयोग ने भी इस पर रोक लगा दी थी। इतनी कानूनी बंदिशे होने के बावजूद भी मनमाने तरीके से लोगों को सीवर में उतार कर उनकी जान ली जा रही है और हर मौत के बाद एक वक्तव्य जारी कर कुछ मुआवजे के साथ अपने कर्तव्यों का इतिश्री कर ली जाती है। अभी न जाने कितने विकास, राजेश या रवीन्द्र की जानें जाना बाकी है। सीवर में मरने वाला कोई भी व्यक्ति किसी धन्नासेठ, अफसरशाह, मंत्री के घर का या रिश्तेदार नहीं होता है वह सामाजिक, आर्थिक रूप से पिछड़े कमजोर तबके से होते हैं। आखिर इन मौतों के जिम्मेवार कौन हैं? क्या बयान दे देने से या कर्मचारियों को गिरफ्तार करने या निलम्बित करने से इस समस्या का समाधान हो सकता है?

--सुनील कुमार

जब दुनिया के किसी देश में ये बातें कही जायेंगी -- हमारे गरीब खुश हैं, उनके बीच न तो उपेक्षा है और न ही निराशा, हमारे जेलों में कैदी नहीं हैं, बूढ़े-बुजुर्ग वंचित नहीं हैं, कमर तोड़ टैक्स का बोझ नहीं है, यह तार्किक दुनिया है मेरे दोस्त, क्योंकि मैं इसकी खुशी का साथी हूँ-- जब ये सारी बातें कहने की स्थिति हो, तभी जा कर कोई देश अपने संविधान और सरकार की डींग हाँक सकता है।

--टॉमस पेन

निजता पर फैसला आने के बाद : सरकार को कुछ सवालों का जवाब देना होगा

निजता पर फैसला आने के बाद सरकार को कुछ सवालों का जवाब देना होगा

हमारी निजी सूचनाएँ उन विदेशी कम्पनियों को क्यों सौंपी गयी जिनके सीआईए, अमरीकी होमलैंड सेक्युरिटी और फ्रांस सरकार से करीबी रिश्ते हैं?

इस फैसले ने यूआईडी प्रोजेक्ट को दी जा रही चुनौती को एक बार फिर बहस के केन्द्र में ला दिया और सरकार को इसका जवाब देना होगा कि यह प्रोजेक्ट जनता की जिन्दगी और आजादी को लेकर क्या कर रहा है। (एएफपी)

यह हमारे समय की एक त्रासदी है कि एक सरकार अदालत में जाती है और यह दावा करती है कि उसके देश की जनता को निजता का कोई अधिकार नहीं है। यह आशावाद का एक कारण है कि अदालत ने अपने नौ न्यायाधीशों का समय सरकार को यह बताने के लिए समर्पित किया कि उसने गलत समझा है।

यह बात कि निजता का अधिकार मौलिक है, अब सन्देह से परे स्थापित हो चुकी है।

न्यायाधीशों ने पूरी स्पष्टता से कहा कि निजता प्राकृतिक अधिकार है और यह कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे कोई सरकार जब चाहे किसी को दे या छीन ले।

यह भूला नहीं जा सकता कि सरकार की तरफ से अटॉर्नी जनरल ने यह दलील दी कि हम लोगों के पास निजता का कोई अधिकार तो नहीं ही है, साथ ही हमारा अपने शरीरों पर भी कोई अधिकार नहीं है।

कुछ दिलचस्प अवसर हैं जिन्हें इस फैसले में अदालत ने अपने लिए सृजित किया है। पहला, इसने आपातकाल के दौरान बन्दी प्रत्यक्षीकरण मामले में 1976 में दिये गये अत्यन्त शर्मनाक फैसले को खारिज कर दिया। उस फैसले ने जीवन के अधिकार और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को निलम्बित कर दिया था और पाँच में से चार न्यायाधीशों ने यह खोज की थी कि सरकार को किसी की जान और आजादी लेने का अधिकार है और इस मामले में कोई भी अदालत हस्तक्षेप नहीं करेगी। न्यायमूर्ति खन्ना उस समय के एकमात्र असहमत नायक थे। दूसरा, अदालत ने दिसम्बर 2013 में धारा 377 के मामले में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दिये गये फैसले को रद्द कर दिया और उस फैसले के तर्कों की कटु आलोचना की।

इस फैसले ने यूआईडी प्रोजेक्ट को दी जानेवाली चुनौती को अन्तिम तौर पर बहस के केन्द्र में ला दिया और सरकार को इस बात का जवाब ढूँढना होगा कि यह प्रोजेक्ट लोगों की जिन्दगी और आजादी के प्रति क्या रवैया अपना रहा है। उसे इस बात का जवाब देना होगा कि इसने स्वैच्छिक नामांकन को इतना जोर-जबरदस्ती वाला कैसे बना दिया; कैसे उसने इन सालों के दौरान लगातार अदालत के फैसले का उल्लंघन किया; किस तरह बहिष्कार लोगों को मार रहा है और उनको भोजन का अधिकार पाने से रोक रहा है, क्योंकि उनकी उँगली का निशान काम नहीं कर रहा है और इसलिए कि बायोमेट्रिक उपकरण की ऐसी जाँच नहीं हुई जिससे यह काम शुरू हो सके; हमारी निजी सूचनाएँ उन विदेशी कम्पनियों को क्यों सौंपी गयी जिनके सीआईए, अमरीकी होमलैंड सेक्युरिटी और फ्रांस सरकार से करीबी रिश्ते हैं; आधार नम्बर को हर एक डेटाबेस में डालकर उसके जरिये व्यापक निगरानी किये जाने के बारे में; डाटा को नये खनिज तेल की तरह कमाई का जरिया बनकर उभरने के बारे में तथा बुनियादी कसौटी के रूप में सहमति और स्वायत्तता को गायब किये जाने के बारे में, इत्यादि।

यह काफी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि जब सरकार यूआईडी के मामले में यह दलील दे रही थी कि निजता का कोई मौलिक अधिकार नहीं है, तभी वह दूसरे मामलों में यही बात नहीं कह रही थी जिनकी सुनवाई ठीक उसी दौरान सर्वोच्च न्यायलय में हो रही थी। उदाहरण के लिए मानहानि पर आपराधिक कानून को चुनौती दी गयी थी, जिसमें याचिकाकर्ता यह माँग कर रहे थे कि कई कारणों से इस प्रावधान को आपराधिक कानून से हटा दिया जाना चाहिए। इस पर सरकार ने यह दलील दी कि इस देश के नागरीकों को निजता का मौलिक अधिकार है और सरकार की रूचि उनके इस हित की रक्षा करने में है, जिसके चलते वह चाहती है कि आपराधिक कानून में अवमानना को एक अपराध के रूप में जारी रखने की जरूरत है। फिर यूआईडी के मामले में ही अपवाद क्यों? सरकार इस बात से क्यों डरती है कि निजता का अधिकार साथ-साथ बना नहीं रह सकता, जैसा कि वह यूआईडी प्रोजेक्ट में कर रही है? मेरा अनुमान है कि हम रास्ता निकाल लेंगे, क्योंकि यूआईडी मामले की सुनवाई अभी चल रही है।

--उषा रामनाथन

रिजर्व बैंक ने कबूला : नोटबन्दी का असर

30 अगस्त, 2017 को रिजर्व बैंक की सालाना रिपोर्ट प्रकाशित हुई है। पिछले साल 8 नवम्बर, 2016 प्रधानमंत्री द्वारा की गयी नोटबन्दी की घोषणा पर इस रिपोर्ट में किये गये खुलासों को लेकर सरकार और विपक्ष के अर्थशास्त्रियों, बुद्धिजीवियों के बीच बहस छिड़ गयी है। प्रधानमंत्री, वित्तमंत्री और रिजर्व बैंक के गवर्नर 10 महीनों तक नोटबन्दी की सफलता की डींग हाँकते रहे और उसकी सही तस्वीर जनता से छुपाते रहे लेकिन अब बिल्ली झोली से बाहर आ गयी है।

इस रिपोर्ट में नोटबन्दी प्रकरण के कुछ ठोस आँकड़े हैं-- 1) बन्द किये गये 500 और 1000 रुपये के 99 फीसदी नोट इस प्रक्रिया में बैंकों के जरिये रिजर्व बैंक के पास वापस आ चुके हैं। 2) नये 500 रुपये के नोट का इस्तेमाल 22.5 फीसदी हो गया है जबकि पहले कुल इस्तेमाल होने वाले नोटों में इसका हिस्सा 47.8 फीसदी था। 2000 रुपये के नये नोट का इस्तेमाल है 50.2 फीसदी है जबकि पुराने 1000 रुपये के नोट की हिस्सेदारी 38.6 फीसदी थी। 3) देश में नोटबन्दी और विश्व बाजार में मंदी के बावजूद महँगाई दर घटी है और वित्तीय घाटा तथा देश के चालू खाता घाटे में भी कमी आयी है। 4) इस स्थिति में जीएसटी लागू होने के चलते 2017-18 वित्तीय वर्ष में वृद्धि की उज्जवल सम्भावना है।

अगर 99 फीसद पुराने नोट के वापस आ चुके हैं और बाकी बचे नोट सहकारी बैंकों के पास हैं, तो कालाधन कहाँ गया जिसको ढूँढने के लिए इस अभियान की शुरुआत की गयी थी? इसका साफ मतलब है कि नोटबन्दी का मकसद कालाधन नहीं था। बन्द किये गये दोनों नोटों के बारे में मौद्रिक तर्क था की बड़े नोट होने के चलते उनकी नकल करना आसान है और नकली नोटों को छाँटने के लिए नोटबन्दी जरूरी है। इस तर्क को मान लिया जाये तो सवाल उठता है कि 1000 रुपये का नोट बन्द करके उसके दुगनी रकम का नोट छापने का क्या तर्क है? क्या और बड़े नोट होने के चलते नकली नोट बनने की सम्भावना बढ़ नहीं गयी जबकि पुराने 1000 रुपये के नोट की तुलना में आज ज्यादा संख्या में 2000 रुपये का नोट बाजार में घूम रहा है? जहाँ तक वित्तीय घाटे का सवाल है, पिछले अंक में हमने वित्तीय घाटे (वित्तीय घाटा और कुशलता का मायाजाल; देश-विदेश अंक 26) की बाजीगरी को समझने की कोशिश की थी, फिर यह समझना मुश्किल नहीं है की वित्तीय घाटा कम होने से किसको फायदा हुआ।

नोटबन्दी के फायदे गिनाने वालों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि 2 रुपये, 5 रुपये, 10-20 रुपये के नोटों का इस्तेमाल भी नोटबन्दी के कारण बढ़कर एक साल में (मार्च 2017 में) 13.6 फीसदी से 26.6 फीसदी हो चुका है। इसका मतलब साफ है की नगद रकम का सरकारी प्रबन्धन काफी नहीं था और जनता ने इसमें अप्रत्यक्ष मदद की है। दूसरी बात यह है कि नगद रकम का यह भारी असन्तुलन अर्थव्यवस्था के लिए घातक है। किसी भी बढ़ती अर्थव्यवस्था के लिए नगदी रकम बाजार में घूमना बेहद जरूरी है। इस रिपोर्ट के अनुसार वित्तीय वर्ष 2015-16 में नोटों की संख्या में 14.88 फीसदी बढ़ोत्तरी हुई थी लेकिन वर्ष 2016-17 में यह दर गिरकर -20.18 (ऋणात्मक होकर) फीसदी हो गयी। यानी व्यवस्था को चलाने के लिए न्यूनतम नगदी रकम बाजार में मौजूद नहीं थी। अगर मान लिया जाये कि कम से कम पिछले वर्ष जितनी नगदी बाजार में आना चाहिए थी तो बाजार में 188.58 खरब रुपये के नोटों की जरूरत थी, जबकि रिपोर्ट का कहना है कि इस समय बाजार में मौजूद नोटों की कीमत 131.02 खरब रुपये है। यानी जरूरत की तुलना में 57.56 खरब रुपये के नोट बाजार में कम है। अगर यह भी मान लिया जाये कि बढ़ती अर्थव्यवस्था में डिजिटल लेन-देन भी बढ़ेगा तो नोटों की संख्या में कम से कम 10 फीसदी वृद्धि जरूरी थी। इसके विपरीत कमी थी 49.55 खरब रुपये की यह असन्तुलन अर्थव्यवस्था को ढुलमुल करने के लिए काफी है। इसी के नतीजे के बतौर हमने देखा कि लघु और मध्यम उद्योग, जहाँ नगदी रकम की ज्यादा जरूरत होती है, किस तरह चौपट हो गये हैं।

डिजिटल लेन-देन के पैरोकारों की बात पर गौर करें तो इस रिपोर्ट में उनकी आखों में उँगली डाल कर दिखाया गया है कि यह कोशिश और तर्क भी कितना कमजोर था। भारतीय अर्थव्यवस्था में डिजिटल लेन-देन का 90 फीसदी बड़े कारोबार/उद्योग में होता है। नोटबन्दी से पहले यह तेजी से बढ़ भी रहा था। इसके लिए कोई सनकी "क्रान्ति" करने की जरूरत नहीं थी। नतीजन नोटबन्दी के शुरुआती महीनों में तो इस प्रक्रिया में भारी उछाल आया लेकिन हर महीने भारी संख्या में इसमें गिरावट आती रही। इस रिपोर्ट में दर्ज किये गये आखिरी महीने जून, 2017 में पिछले महीने यानी मई की तुलना में डिजिटल लेन-देन 20 फीसदी घट चुका है।

इससे साफ है कि ज्यादातर लोगों के ऊपर यह तरीका जबरन थोपा गया था। देशभक्त सरकार के समर्थक चीनी सामानों का बहिष्कार के लिए एक तरफ व्हाट्सएप, फेसबुक और गली मोहल्ले में गला फाड़ रहे हैं और दूसरी तरफ देशभक्त सरकार चीनी निवेश के सहारे चलने वाली पेटीएम को फायदा पहुँचाने के लिए नोटबन्दी कर रही है। प्रधानमंत्री स्वयं इसके पैरोकार और विज्ञापन करने वाले रहे हैं। इससे कुछ दिन पहले बाजार में रिलायंस जिओ का सिम आया था। इस रिपोर्ट में उसको भी डिजिटल लेन-देन

तथा संचार माध्यम को तेज रफ्तार देने के लिए शाबासी दी गयी है। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने इसी तरह अपनी रिश्तेदारी को मजबूत किया है।

नोटबन्दी के बाद जीएसटी लागू करके सरकार ने बचे-खुचे लघु और मध्यम उद्योगों के साथ दुबारा वही खेल खेला है जिनको नोटबन्दी ने पहले ही कोमा में भेज दिया था। यानी सरकार आज कम्पनी वालों के हित में नीति तो लागू कर रही है, लेकिन वे कौन सी कम्पनी हैं जिनके लिए प्रधान सेवक तथा उनका मंत्रालय सबसे ज्यादा परेशान है? जाहिर सी बात हैं कि वे विदेशी बैंकों, वित्तीय संस्थानों और कम्पनियों के साथ रिश्ता रखने वाले रिलायंस, अडानी, टाटा, बिड़ला जैसे लोगों को ही कारोबार करने की छूट दे रहे हैं और कानूनी तरीके अपनाकर बाकी आबादी को कंगाल की जिन्दगी जीने की और धकेल रहे हैं।

--अमित इकबाल

अडानी के बारे में समाचार जुटाना और छापना आसान नहीं

भारत के कारोबारी अडानी समूह के खिलाफ ऑस्ट्रेलिया में लगातार प्रदर्शन हो रहे हैं। अडानी समूह ऑस्ट्रेलिया में कोयला खदान शुरू करना चाहता है, ऑस्ट्रेलिया के पर्यावरणविदों को अपने देश के पर्यावरण की चिन्ता है। उनका मानना है कि कोयले के उत्पादन से पूरे विश्व मे ग्लोबल वार्मिंग बढ़ेगी और कोयले की खदान के चलते ग्रेट बेरियर रीफ के पास करीब 11 लाख घन मीटर कटाई होगी। 60 साल तक वहाँ से हर वर्ष 6 करोड़ टन कोयले का आयात होगा। ढुलाई के लिए जहाज उस इलाके में आते-जाते रहेंगे। इससे रीफ और समुद्री जीवों को नुकसान होगा 2,300 किलोमीटर लम्बे इस ईको-सिस्टम में हजारों रीफ (चट्टानें) और सैकड़ों आईलैंड हैं। यहाँ 600 तरह के सख्त और मुलायम कोरल (मूँगा) पाये जाते हैं। यहाँ रंगीन मछलियों, सीप, स्टारफिश, कछुओं, डॉल्फिन और शार्क की हजारों किस्में भी पायी जाती हैं। ऑस्ट्रेलिया की स्थानीय मीडिया ने दावा किया है कि आधे से ज्यादा ऑस्ट्रेलियाई नागरिक इस खदान के विरोध में आ गये हैं।

ऐसे ही प्रश्न भारत मे भी उठे थे जब मुन्द्रा पोर्ट के लिए सैकड़ों किलोमीटर की समुद्र तट की जमीन गुजरात सरकार ने अडानी समूह को कौड़ियों के भाव दे दी थी लेकिन भारत में पर्यावरण की चिन्ता करने को विकास का विरोध माना जाता है। मोदी जी ने अडानी समूह को भारतीय स्टेट बैंक (एसबीआई) से करीब 6 हजार करोड़ रुपये का लोन भी इसी परियोजना के लिए दिलवाया है।

लेकिन ऑस्ट्रेलिया का मीडिया भारत की तरह बिका हुआ नहीं है, ऑस्ट्रेलियाई समाचार संस्था एबीसी न्यूज के विशेष कार्यक्रम फोर कॉर्नर्स के तहत की गयी पड़ताल के बाद ये दावा किया गया है कि ब्रिटिश वर्जिन आईलैंड में कई अहम परिसम्पत्तियाँ दरअसल अडानी समूह की ही हैं।

कुछ दिन पहले ब्रिटिश अखबार द गॉर्डियन ने भी यह दावा किया था कि भारतीय कस्टम विभाग के डॉयरेक्टरेट ऑफ रेवन्यू इंटलीजेंस (डीआरआई) ने अडानी समूह पर फर्जी बिल बनाकर करीब 1500 करोड़ रुपये टैक्स हैवेन देश में भेज दिया है।

भारत की इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली (इपीडब्ल्यू) मैगजीन ने मात्र इतना ही कहा था कि सरकार ने स्पेशल इकनोमिक जोन (सेज) अधिनियम में बदलाव करके अडानी ग्रुप को 500 करोड़ रुपये का फायदा पहुँचाया है। इस विवाद में अडानी ने ऐसा दबाव बनाया कि इपीडब्ल्यू के सम्पादक को नौकरी से हाथ धोना पड़ा यानी साफ है कि भारत मे खोजी पत्रकारिता अपनी अन्तिम साँसें गिन रही है और विदेशी पत्रकारों को भी ठीक से काम नहीं करने दिया जाता।

एबीसी न्यूज के फोर कॉर्नर्स के पत्रकार स्टीफन लॉन्ग ने दावा किया था कि जब वे इस खोजी रिपोर्ट के दौरान पड़ताल के लिए गुजरात गये थे तो अगले ही दिन पुलिस उनके होटल पहुँच गयी थी इस घटना का वीडियो भी भारत के सोशल मीडिया में काफी वायरल हुआ था जिसमें स्टीफन ने बताया, "हमसे करीब पाँच घंटे तक पूछताछ की गयी। एक वरिष्ठ पुलिस अधिकारी इस दौरान बार-बार मोबाइल पर बात करने के लिए कमरे से बाहर जाता था और लौटने पर उसका रुख और कड़ा हो जाता था। वे लोग अच्छी तरह जानते थे कि हम वहाँ क्यों आये हैं, लेकिन कोई भी ए (अडानी) शब्द मुँह से नहीं निकाल रहा था।

पत्रकार जोसी जोसेफ ने एक किताब लिखी है 'अ फीस्ट ऑफ वल्चर्स' इस किताब में बिजनेस घराने किस तरह से भारत के लोकतंत्र का गला घोंट रहे हैं, उसका ब्योरा है। जोसेफ ने लिखा है कि सुप्रीम कोर्ट की बनायी एसआईटी के सामने भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा मामला अडानी ग्रुप का आया है। लेखक को प्रत्यर्पण निदेशालय के सूत्रों ने बताया है कि अगर सही जाँच हो जाये तो अडानी समूह को 15 हजार करोड़ रुपये का जुर्माना भरना पड़ सकता है।

लेकिन यहाँ किसी की हिम्मत नहीं है कि अडानी से सम्बन्धित कोई जाँच कर सके जबकि विनोद अडानी (गौतम अडानी के बड़े भाई और अडानी ग्रुप के मुखिया) का नाम पनामा पेपर्स में भी आ चुका है।

--गिरीश मालवीय

लोकतंत्र की कलई खुली

निर्वाचन आयुक्त ओमप्रकाश रावत ने आज की नंगी राजनीति के तन पर पड़ी लोकतंत्र की झीनी चादर खींच दी। उन्होंने 18 अगस्त 2017 को दिल्ली में एसोसिएशन ऑफ डेमोक्रेटिक रिफार्म्स (एडीआर) द्वारा आयोजित राजनीतिक एवं चुनाव सुधार परिचर्चा में बयान दिया कि "हर कीमत पर चुनाव जीतना आज राजनीतिज्ञों का सामान्य लक्षण हो गया है। अगर कोई चुनाव जीतने जाता है तो उसने चाहे जितने गलत और घटिया तरीके अपनाये हों, चाहे जिन हथकण्डों का सहारा लिया हो, उसे कुछ भी गलत नजर नहीं आता। उसे कोई अपराध बोध नहीं सतायेगा। वह मानकर चलता है कि उसके गुनाहों पर पर्दा पड़ गया है।" इस तरह चुनाव आयुक्त ने पहले से ही नंगी राजनीति को और नंगा किया।

अपने व्याख्यान में चुनाव आयुक्त ने राजनेताओं और चुनाव के ढकोसले की एक अच्छी तस्वीर दिखायी है। आज राजनीति अपने देश और समाज को उन्नति के रास्ते पर ले जाने के बजाय एक कैरियर बन गयी है। चुनाव जीतने के लिए पहले पैसा पानी की तरह बहाया जाता है और फिर सत्ता में आने पर, खर्च किये गये पैसों को कई गुणा करके वापस पाने के लिए तमाम तरह के हथकण्डे अपनाये जाते हैं। चुनाव में पैसा इस हद तक हावी है कि सामान्य नागरिक चुनाव लड़ने के बारे में सोच भी नहीं सकता। जिस पार्टी या प्रत्याशी के पास जितना अधिक पैसा होता है उसके जीतने की सम्भावना भी उतनी ही ज्यादा होती है। पैसे के दम पर प्रचार के टीवी, अखबारों जैसे साधनों से लेकर वोट तक खरीदे जाते हैं।

राजनीतिक पार्टियाँ 90 फीसदी से ज्यादा चन्दा पूँजीपतियों से लेती हैं। इस काम को आसान बनाने के लिए इलेक्टोरल बॉण्ड के प्रावधान को प्रस्तावित किया गया है। इसके तहत पूँजीपतियों को रुपये का थैला भरकर पार्टी कार्यालय ले जाने की जरूरत नहीं है। पूँजीपति बैंक में बॉण्ड बनाकर देगा और वहाँ से पार्टी के खाते में अपने आप रुपया पहुँच जायेगा। इलेक्टोरल बॉण्ड के जरिये चन्दा देने में यह भी सुविधा होगी कि चन्दा देने वाले और चन्दा लेने वाली पार्टी का नाम गुप्त रखा जायेगा। इसे आरटीआई दायरे से भी बाहर रखा गया है। पार्टियों को अधिकार दिया गया है कि वे अपने लेने-देन को गुप्त रखें।

यदि इलेक्टोरल बॉण्ड प्रस्तावित संशोधन लागू होता है तो राजनीतिक दलों को मिलने वाले चन्दे में कॉरपोरेट जगत का हिस्सा बढ़ता जायेगा। अभी कम्पनियों के लिए राजनीतिक चन्दा दे सकने की एक कानूनी सीमा तय है। परन्तु इलेक्टोरल बॉण्ड के रूप में असीमित चन्दा दे सकने की एक छूट होगी और इसका ब्यौरा छिपाये रखने की इजाजत भी होगी।

हम देखते हैं कि एक तरफ तो यदि आम आदमी 10 या 20 हजार रुपये बैंक में जमा करता या निकलता है तो उससे पूछा जाता है कि ये रुपये कहाँ से आये हैं लेकिन दूसरी तरफ सभी राजनीतिक पार्टियाँ जो अरबों रुपयों का चन्दा पूँजीपतियों से लेती हैं। इलेक्टोरल बॉण्ड के जरिये यह धन गोपनीय रखा जायेगा और इसे सूचना के अधिकार से भी बाहर रखा जायेगा।

इस नये संशोधन से राजनीतिक पार्टियों, उनके नेताओं और पूँजीपतियों के बीच नापाक गठजोड़ को कानूनी जामा पहना दिया जायेगा। मोदी सरकार 2014 लोकसभा चुनाव प्रचार के समय भ्रष्टचार के मुद्दे को लेकर सत्ता में आयी लेकिन सत्ता में आने पर इसने सबसे अधिक भ्रष्टाचार को बढ़ाने का काम किया। भ्रष्टाचार में सबसे खतरनाक भ्रष्टाचार पूँजीपतियों से पैसा लेकर उनके फायदे के लिए कानून बनाना होता है। पार्टियों को चन्दा देने के लिए इलेक्टोरल बॉण्ड जारी करना और पार्टी फंड को आरटीआई के दायरे से बाहर रखने का यही अर्थ है।

सभी जानते हैं कि चुनाव प्रचार के समय राजनीतिक पार्टियाँ, होर्डिंग्स, पेड न्यूज और अनेक तरह के झूठे प्रचार के जरिये देश की जनता का ध्यान असली समस्याओं से हटाकर जाति, धर्म या गैर जरूरी मामलों पर केन्द्रित कर देती है। और ऐसे ही मुद्दों पर वोट माँगकर सत्ता पाती हैं। सभी पार्टियाँ पूँजीपतियों से चन्दा लेकर उन्हीं के पक्ष में फैसला लेती हैं न कि देश की जनता के पक्ष में। जब सभी संसदीय राजनीतिक पार्टियाँ चन्द मुनाफाखोर पूँजीपतियों के पक्ष में काम करने लगी हैं तो आज जनता को तय करना होगा कि उनके असली नेता कौन हैं? आज जनता के बीच से ऐसे नेता तैयार करने पड़ेंगे जो जनता के लिए काम करें। आज किसानों के बीच से नेता आने चाहिए जो अपने लोगों के दुःख दर्द को भली प्रकार समझते हों, जो जमीनी रूप से जनता से जुड़े हों।

आज ऐसे नेताओं को तैयार करना हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती है अगर हम ऐसे नेता तैयार करते हैं तभी हम एक स्वस्थ्य, सुन्दर और बेहतर देश तथा समाज की कल्पना कर सकते हैं।

आधुनिक विश्व में गुलाम व्यापार का घिनौना सच

आधुनिक विश्व में दासता अतीत की चीज मानी जाती है, लेकिन सच्चाई यह है कि 21 वीं सदी में भी दुनिया भर में 4 करोड़ से ज्यादा लोग घिनौने गुलाम व्यापार के शिकार हैं। अन्तरराष्ट्रीय श्रम संगठन (आईएलओ) की एक नयी रिपोर्ट के अनुसार यह दुनिया के हर कोने में व्याप्त है। वॉक फ्री फाउंडेशन और इंटरनेशनल ऑर्गनाइजेशन फॉर माइग्रेशन (आईओएम) की शोध पर आधारित इस रिपोर्ट में अनुमान लगाया गया है कि 2016 में 1.54 करोड़ लोग बँधुआ विवाह के अधीन थे। इनमें से एक तिहाई से अधिक यानी 37 फीसदी शादी के बाद भी बच्चे थे, उनमें से कई 15 वर्ष से कम आयु के थे। शादी करने के लिए मजबूर किये गये लोगों में लगभग सभी महिलाएँ और लड़कियाँ थीं।

रिपोर्ट में यह भी अनुमान लगाया गया है कि 2016 में किसी भी समय, बँधुआ श्रम में 1.6 करोड़ लोग लगे हुए थे, जिनमें से 59 फीसदी महिलाएँ थी। वे घरेलू काम, निर्माण या विनिर्माण में कार्यरत थी। बँधुआ श्रम कई रूपों में हो सकता है। आधे से ज्यादा लोग इसलिए बँधुआ श्रम करते हैं क्योंकि उनके पास इसका कोई विकल्प नहीं है। वे अपने मालिकों के कर्जदार हैं जिनके लिए वे काम करते हैं। लेकिन पीड़ितों ने बताया कि उन्हें अक्सर बलात्कार का सामना करना पड़ता है। लगभग एक-चौथाई पीड़ितों को धमकी दी गयी थी कि अगर उन्होंने काम छोड़ दिया तो उनकी मजदूरी को रोक दिया जायेगा। एक तिहाई पीड़ित लोगों को काम छोड़ने की स्थिति में हिंसक धमकी दी गयी और इनमें से 16 फीसदी पीड़ितों को शारीरिक हिंसा का शिकार बनाया गया, जिसमें यौन हिंसा भी शामिल थी।

बँधुआ श्रम के लगभग एक चौथाई मामले में यानी लगभग 41 लाख लोगों का आर्थिक विकास की आड़ में अक्सर राज्य द्वारा ही शोषण किया गया।

2016 में 48 लाख लोग बँधुआ यौन शोषण के शिकार थे। आधुनिक गुलामी से प्रभावित लोगों में 71 फीसदी यानी लगभग तीन चौथाई महिलाएँ हैं और यौन शोषण के शिकार लोगों में 99 फीसदी महिलाएँ हैं। दुर्भाग्य से, गुलामी में फँसे चार लोगों में से एक बच्चा भी है।

रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि कुछ क्षेत्रों में यह समस्या अधिक है। अफ्रीका में, 1,000 लोगों में से औसतन 7.6 लोग आधुनिक गुलामी से पीड़ित हैं। एशिया और प्रशांत क्षेत्रों में औसतन 6.1 लोग तथा यूरोप और मध्य एशिया में 3.9 लोग गुलामी के शिकार है। हालाँकि रिपोर्ट ने स्वीकार किया कि अरब राज्यों और अमरीका में आँकड़े आसानी से उपलब्ध नहीं है। वैश्विक दासता सूचकांक 2016 के अनुसार, आधुनिक गुलामी में शामिल लोगों में से 58 फीसदी पाँच देशों में हैं-- भारत, चीन, पाकिस्तान, बांग्लादेश और उजबेकिस्तान।

अमरीका यूनेस्को से बाहर

अमरीका ने संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) से बाहर निकलने का फैसला किया है। नेतान्याहू ने अमरीका के इस फैसले का स्वागत किया और कहा कि इजराइल भी उसका अनुसरण करेगा। यूनेस्को पूरी दुनिया में प्रेस की आजादी, विश्व धरोहर की हिफाजत, स्त्री-पुरुष समानता, वैज्ञानिक संवाद, साफ पीने का पानी और साक्षरता जैसे विकास कार्यों को बढ़ावा देता है।

अमरीका का कहना है कि यूनेस्को इजराइल विरोधी पूर्वाग्रह से ग्रस्त है। पहले भी, 1984 में अमरीका ने यूनेस्को से नाता तोड़ लिया था और उसे आर्थिक सहयोग देना बन्द कर दिया था। 2002 में दुबारा शामिल होने के बावजूद इसने अपना आर्थिक सहयोग शुरू नहीं किया। 2011 में उसने 4 करोड़ डॉलर की सहयोग राशि इस लिए नहीं दी थी कि यूनेस्को ने फिलिस्तीन को सदस्यता दे दी थी।

इस साल जुलाई में यूनेस्को ने फिलिस्तीन में वेस्ट बैंक स्थित एक प्राचीन शहर हेब्रोन को मुस्लिम आराधना स्थल के रूप में विश्व धरोहर में शामिल कर लिया था। इस फिलिस्तीनी शहर में अल अक्सा मस्जिद ओर डॉम ऑफ रॉक दो मुस्लिम इमारतें हैं। इजराइल का इस फैसले से विरोध था, क्योंकि उन इमारतों के करीब ही एक अन्य ऐतिहासिक स्थल टेम्पल माउन्ट पर यहूदियों की दावेदारी है। हालाँकि मुस्लिम इसे हरम-अल-सरीफ मानते हैं और फिलहाल इजराइल सरकार ने भी टकराव से बचने के लिए पहले से ही इसे सिर्फ मुस्लिम उपासना स्थल के रूप में ही मान्यता दी है।

यूनेस्को की डायरेक्टर जेनरल इरिना बोकोवा ने कहा कि "ऐसे समय में जब दुनिया भर में समाजों को तोड़ने वाले टकराव लगातार जारी हैं, अमरीका का यूनेस्को जैसी संस्था से अलग होना दुर्भाग्यपूर्ण है, जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ की यह संस्था दुनियाभर में शान्ति की शिक्षा दे रही है और उन संस्कृतियों की रक्षा कर रही है जिन पर हमले हो रहे हैं। यह यूएनओ परिवार का नुकसान है, यह बहुलतावाद का नुकसान है।"

खुद को दुनिया का चौधरी समझने वाले अमरीका का यह रवैया कोई नया नहीं है। जब भी यूएनओ के किसी मंच पर बहुमत का फैसला उसके मनमाफिक नहीं होता है, तो अमरीकी उसे "बहुमत की तानाशाही" कह कर खारिज कर देते हैं। मुद्दा चाहे किसी देश पर हमले का हो, पर्यावरण विनाश रोकने का या सांस्कृतिक धरोहरों की हिफाजत का, अक्सर वह विश्व बहुमत की उद्दंडता पूर्वक अवहेलना करता है।

प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना का सच

प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना जिन किसानों के लिए बनायी गयी उन्हें इसकी कोई जानकारी नहीं दी गयी कि इससे उन्हें क्या फायदा होगा। किसानों के खातों से बिना बताये बीमा की रकम वसूल ली गयी। योजना बीमा कम्पनियाँ अरबों-खरबों किसानों की खून पसीने की कमाई डकार रही हैं। इसका खुलासा खुद सरकार द्वारा संसद में दिये गये बयान से हुआ है।

7 अप्रैल 2017 को राज्य सभा में फसल बीमा योजना के बारे में पूछे गये एक सवाल के जवाब में बताया गया कि 2016 में खरीफ की फसल के लिए किसानों की तरफ से कुल 4270.55 करोड़ रुपये फसल बीमा के दावे किये गये थे। इनमें से मात्र 714.14 करोड़ रुपये के दावे का ही भुगतान किया गया।

फसल बीमा योजना के प्रावधानों के अनुसार प्रीमियम राशि एक फसल की अवधि के लिए ली जाती है। अगर किसान फसल खराब होने के एक निश्चित समय के अन्दर आवेदन करता है तभी उसको फसल बीमा का भुगतान होता है तय समय के बाद वह राशि बीमा कम्पनियों की तिजोरियों में चली जाती है।

2016 में खरीफ की फसल पर किसानों से इन कम्पनियों ने 21,500 करोड़ रुपये प्रीमियम (किस्त) के तौर पर उगाही की, वहीं किसानों ने अपनी फसल खराब होने के जो दावे किये, वे कुल जमा राशि का 20 फीसदी से भी कम था। बीमा कम्पनियों ने किसानों को कुल राशि का मात्र 3.31 फीसदी ही भुगतान किया। इन कम्पनियों की लूट यहीं खत्म नहीं होती है। सरकार ने इन बीमा कम्पनियों को इसके अलावा भी लाभ पहुँचाया।

सरकारी आँकड़े बताते हैं कि फसल बीमा योजना के लिए 2016-17 का कुल बजट आँकलन 5501.15 करोड़ था, जिसे सरकार ने बढ़ाकर 13240.40 करोड़ रुपये कर दिया। यह क्यों बढ़ायी गयी, इसका खुलासा खुद वित्त मंत्री अरुण जेटली ने 3 फरवरी को दिये अपने बजट भाषण में किया है कि उनके मुताबिक दावों के समायोजन के लिए यह रकम बढ़ायी गयी, जबकि राज्य सभा में पूछे गये इन सवालों के जवाब में इस बात का कहीं कोई जिक्र नहीं है कि बीमा कम्पनियों के सामने एरियर के कितने दावे पिछले भुगतान के आये।

प्रधानमंत्री फसल बीमा योजना केन्द्र सरकार की जोर-शोर से प्रचारित योजना है। इसी योजना के नाम पर सरकार यह दावा कर रही है कि वह खेती को लाभ का धंधा बनायेगी। अखिल भारतीय किसान सभा के नेता हन्नान मौल्ला का कहना है कि इस पूरे मामले में बड़ी वित्तीय गडबड़ी की आशंका नजर आती है। सरकार एक तरफ किसानों के दावों के समय पर भुगतान के लिए रिमोट सेसिंग टेक्नोलोजी और स्मार्ट फोन के इस्तेमाल जैसी हवाई बातें करती है, दूसरी तरफ किसानों के दावों को पूरा न किये जाने पर खामोश है। इस मामले को लेकर जब किसान नेता कृषि मंत्री से मिले, तो उन्होंने यह कहकर बात टाल दी, कि सब भगवान की मेहरबानी है। फसल अच्छी हुई, इसलिए ज्यादा दावे नहीं आये।

लेकिन सवाल तो यह है कि फसल खराब होने के जो दावे किसानों ने किये थे। क्या इसकी रकम उन्हें मिली, अगर नहीं तो क्यों? पैसा किसानों का और वही खाली हाथ! सरकार द्वारा किसानों के फसल बीमा दावों का पूरा न करना, बीमा कम्पनियों के हित में है और फसल बीमा के बजट को एरियर के नाम पर बढ़ा देना क्या इस बात का सबूत नहीं कि प्रधानमंत्री ने फसल बीमा के नाम पर किसानों को ठगकर बीमा कम्पनियों की तिजोरी भरने का काम किया है? क्या प्रधान सेवक का काम अपनी जनता को लूटने के नये-नये तरीके ईजाद करना ही रह गया है?

--अमरपाल

जीएम सरसों को हरी झण्डी

केन्द्र सरकार ने जीएम सरसो की किस्म डीएमएच-11 को हरी झण्डी दिखाने का मन बना लिया है, जो दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा विकसित पहली आनुवंशिक बदलावों वाली फसल है। जबकि सच्चाई यह है कि इस जीएम फसल की जीन की बौद्धिक सम्पदा का अधिकार जर्मनी की कम्पनी 'बेयर' के पास है, जो भारत में खर-पतवार नाशक की सबसे बड़ी बिक्रेता कम्पनी है। इस परियोजना में भारत का केवल पैसा लगा है। इसमें दिल्ली विश्वविद्यालय सिर्फ आवेदक है। सरकार के इस मनगढंत किस्से से देश के किसान, कृषि संगठन और कृषि वैज्ञानिक बहुत हतोत्साहित हैं। जीएम फसलों के विरोध की हर आवाज को दबाते हुए नीति आयोग ने इसकी पैरवी की है। सरकार पर्यावरण विनाश और किसानों की तबाही की कीमत पर विदेशी बीज कम्पनियों के हित में यह फैसला ले रही है।

निजी इंजीनियरिंग कॉलेज में बढ़ता असंतोष

निजी इंजीनियरिंग कॉलेजों में असंतोष बढ़ता जा रहा है। पिछले दिनों निजी इंजीनियरिंग कॉलेज से जुड़ा एक मामला सामने आया। मथुरा के एक कॉलेज के कर्मचारियों ने धरना प्रदर्शन किया। उन्होंने कॉलेज प्रबन्धन पर गम्भीर आरोप लगाये। इन आरोपों में उन्होंने कहा है कि पिछले 20 सालों से कॉलेज प्रबन्धन उनका शोषण-उत्पीड़न कर रहा है और कुछ तो कॉलेज की जब से नींव रखी गयी तभी से सेवा दे रहे हैं। फिर भी इन्हें ठेके पर रखा गया है और न्यूनतम मजदूरी से भी कम वेतन मिलता है। उनका कहना है कि इतने सालों से सेवा के बावजूद हमें ठेके पर क्यों रखा गया है? हमें कॉलेज एआईसीटीई के मानदंडों के अनुसार पे रोल पर वेतन क्यों नहीं देता है? संस्था में एक कर्मचारी 17 साल से कार्यरत हैं, उसका वेतन केवल 7200 रुपये है और बाकियों का इससे भी कम हैं।

हम सभी जानते हैं कि शिक्षा के ये मन्दिर लूट का चारागाह बने हुए हैं। इसी के चलते शिक्षा के नाम पर रोज ही कुछ न कुछ बवाल होता ही रहता है। धरने पर बैठे चर्तुथ श्रेणी के कर्मचारियों का आरोप है कि कॉलेजों में प्रबन्धन ने श्रम कानून को ताक पर रख दिया है और कॉलेज प्रशासन मनमानी पर उतर आया है। इस कॉलेज के ऊपर कर्मचारियों के उत्पीड़न का यह कोई पहला आरोप नहीं है। पहले भी इसी तरह के कई अरोप कॉलेज प्रबन्धन पर लगते रहे हैं। लेकिन इसके निदेशक ने यह खुद स्वीकार किया है कि उनके यहाँ 20 वर्षों से कर्मचारी कार्यरत हैं फिर भला इन बेवस और लाचार लोगो को कॉलेज पेरोल पर क्यों नहीं किया जा रहा है। क्यों बँधुआ मजदूर की तरह इनका उत्पीड़न किया जा रहा है।

एक कर्मचारी का कहना है कि कॉलेज प्रबन्धक का अपना ही संविधान है, वे सरकार के सारे नियमों को ताक पर रखकर खुद ही कानून बनाते हैं और मनमाना न्यूनतम वेतन तय करते हैं। अन्य श्रेणी के कर्मचारियों की तरह इन्हें छुट्टियाँ भी कम मिलती है। गर्मी और सर्दी की लम्बी छुट्टी तो मिलती ही नहीं। इनके साथ हो रहा मनमाना व्यवहार ही इन्हें बार-बार हड़ताल करने और कानून के दरवाजे खटखटाने पर मजबूर कर रहा है। 2012 में भी इन्हीं मुद्दों पर गतिरोध हुआ था तब आपस में बातचीत के द्वारा समझौता हो गया था। लेकिन अबकी बार कर्मचारी अपनी माँगों को लेकर अड़े हुए हैं।

यह सिर्फ एक संस्था का मामला नहीं है। देश के लगभग सभी निजी संस्थानों की यही स्थिति है। यह बात खुद इस संस्था के निदेशक ने कही कि अगर पूरे उत्तर प्रदेश में कोई निजी इंजीनियरिंग कॉलेज एआईसीटीई के मानदंडों को पूरा करता हो, तो वे भी उसे लागू करने के लिए तैयार हैं। जबकि ऐसा नहीं है फिर उनके कॉलेज को ही क्यों निशाना बनाया जा रहा है? उनकी बात सोलहों आने सच है। निजीकरण की भेंट चढ़ी इस शिक्षा व्यवस्था की बुनियादी खराबी यही है कि कर्मचारी, अध्यापक और विद्यार्थी सभी का भयावह शोषण होता है। इन कॉलेजों में शिक्षा का स्तर बहुत खराब है। इसी के चलते अब अभिभावक अपने बच्चों का दाखिला इन कॉलेजों में कराने से कतराने लगे हैं। नतीजा यह हुआ कि सैकड़ों की संख्या में कॉलेज बन्द हो गये और कईयों पर बन्दी की तलवार लटक रही है। इनमें कार्यरत कर्मचारी और शिक्षक बेरोजगार हो रहे हैं। कई शिक्षक ऐसे हैं जो कुछ साल पहले इन्हीं संस्थाओं से बी-टेक करके निकले हुए हैं। उन्होंनें अपनी शिक्षा के लिए बैंकों से 2-4 लाख का कर्ज ले रखा है। इस कर्ज पर ब्याज की दर मकान और कार की तुलना में बहुत अधिक है। नौकरी के अभाव में वे कर्ज के बोझ से दबते चले जाते हैं और भयानक तनाव में जी रहे हैं। उनकी मदद के लिए न तो सरकार आगे आ रही है और न ही कोई संस्थान। इतना ही नहीं कर्ज की वसूली के लिए बैंक भी इनको और इनके परिजनों को अपमानित करते रहते हैं।

निजीकरण के जरिये तकनीकी शिक्षा के विकास के दावे की हवा निकल गयी है। यह गुब्बारा पिचक गया है। अब हमें यह सोचना है कि निजीकरण को बढ़ावा देने वाली सरकार की नीतियों से चिपके रहें या इन जन विरोधी नीतियों के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द करें।

--प्रशान्त कुमार

मैं इस विचार से अपना पीछा नहीं छुड़ा सकता कि मेरी आखिरी पितृभूमि (अमरीका) ने अपने लिए एक नये तरह के उपनिवेशवाद को खोज निकाला है, ऐसा उपनिवेशवाद जो पुराने यूरोपीय उपनिवेशवाद की तरह साफ-साफ दिखाई नहीं देता। यह विदेशों में अमरीकी पूँजी निवेश के जरिये दूसरे देशों पर अपना वर्चस्व कायम करता है, जिसके चलते वे देश अमरीका पर पूरी तरह निर्भर हो जाते हैं। जो भी इस नीति का विरोध करता है, उसके साथ अमरीका का दुश्मन की तरह बर्ताव किया जाता है।

--अलबर्ट आइंस्टीन

(बेल्जियम की राजमाता को 2 जनवरी 1955 को लिखे अपने पत्र में)

एयर इंडिया का निजीकरण

बीते दिनों वित्त मंत्री अरुण जेटली ने एयर इंडिया को निजी हाथों में सौंपने की घोषणा कर दी। फैसला नीति आयोग और वित्त मंत्री ने लिया है, जबकि कम्पनी के पायलट और कर्मचारी "वेतन और भत्ता" न मिलने के कारण कई बार हड़ताल कर चुके हैं और एयर इंडिया की प्रबन्धन समिति इन हड़तालों को गैर-कानूनी बताती रही है। कम्पनी का निजीकरण करने का मतलब है, इन पायलट और कर्मचारियों का भविष्य निजी हाथों में सौंप देना। इसका मतलब है कि निजी कम्पनियाँ जब चाहे तब उन्हें नौकरी से निकाल बाहर कर देंगी। इससे कर्मचारियों की नौकरी की सुरक्षा की गारंटी खत्म हो जायेगी।

एयर इंडिया एक ऐसी सरकारी विमानन कम्पनी है, जिसने 2013 में सुधारों के भारी दवाब के चलते अपने हजारों इंजीनियरों और कर्मचारियों की संख्या घटाकर आधी कर दी थी। उन कर्मचारियों को ऐसी संस्थाओं में नियुक्त किया गया था, जहाँ उनका ओहदा और वेतन पहले से नीचे था। फिर भी रोजगार के नजरिये से दुनिया में यह पहली सबसे बड़ी विमानन कम्पनी है जिसमें सबसे ज्यादा कर्मचारी नौकरी करते हैं। उसी साल एयर इंडिया ने अनुबन्ध के तहत नये रोजगारों पर रोक लगाने का विचार भी शुरू कर दिया था।

एक वक्त था जब घरेलू उड़ान के क्षेत्र में एयर इंडिया का पूरे बाजार पर अधिकार था। निजी कम्पनियों के आने से और सरकार द्वारा ध्यान न देने से यह कम्पनी प्रतियोगिता में पिछड़ गयी, अब बाजार में इसकी हिस्सेदारी केवल 20 फीसदी ही रह गयी है। लेकिन इसे निजी हाथों में सौंपने के बाद वह भी खत्म हो जायेगी। "एयर इंडिया" पर वित्तीय हालत सुधारने का दवाब बनाया जा रहा है, जिसके चलते कम्पनी अपनी लागत और सेवा में कटौती करने की तैयारी कर रही है। जिसका खामियाजा यात्रियों और कर्मचारियों दोनों को उठाना पड़ेगा।

कुछ दिन पहले तेल कम्पनियों ने तेल का दाम घटाया था जबकि भाजपा शासित भारत सरकार की ओर से लगने वाले कर के कारण दूसरी विमानन कम्पनियों के मुकाबले एयर इंडिया के ईंधन का बिल 60 फीसदी तक ज्यादा आया था। 2011 में देश में कांग्रेस का शासन था तब भाजपा विपक्ष में थी। तब कांग्रेस एयर इंडिया का निजीकरण करने की पुरजोर कोशिश कर रही थी। उसी समय भाजपा के राज्य सभा सदस्य और पूर्व केन्द्रीय विमानन मंत्री राजीव प्रताप रूडी ने आरोप लगाया था कि हालात ऐसे बनाये जा रहे हैं कि एयर इंडिया का निजीकरण किया जा सके। उन्होंने यह भी आरोप लगाया कि एयर इंडिया के बन्द होने से देश में निजी विमानन कम्पनियों की चाँदी हो जायेगी और निजी कम्पनियों को अनुभवी पायलटों और यात्रियों की जरूरत है और ऐसे मौके की तलाश है जब वे मनचाहा किराया लोगों से वसूल सकें। मतलब साफ है, भाजपा उस समय एयर इंडिया को निजी हाथों में बेचने के खिलाफ थी। आज वह एयर इंडिया के निजीकरण के लिए देश भर में कोई बहस नहीं चला रही है, वह एयर इंडिया को सीधे बेच देने की कवायद कर रही है। उसका निजीकरण कर दिया गया है। इसका मतलब साफ है कि भाजपा सरकार और कांग्रेस सरकार में कोई फर्क नहीं है। दोनों ही पूँजीपतियों की राजनीतिक पार्टियाँ हैं। दोनों ही निजीकरण पर आमादा हैं और मजदूर विरोधी हैं, बस कांग्रेस की रफ्तार कम होती है और भाजपा की रफ्तार तूफानी।

--ललित कुमार

पृष्ठ 43 का शेष...

से चार गुणा देने की बात भी इस अधिनियम में है। 2014 में मोदी सरकार ने जमीन की लूट को एक कदम आगे बढ़ाते हुए इस बिल में किसान विरोधी 19 संशोधन प्रस्तावित किये। इन नये प्रस्तावों में अधिग्रहण के लिए भूमि मालिक की रजामंदी जरूरी नहीं थी। हालाँकि ये बिल राज्य सभा में पर्याप्त बहुमत न होने की वजह से पास नहीं हो सका। लेकिन सरकार पूँजीपतियों के लिए कितनी प्रतिबद्ध है वह इससे सिद्ध होता है कि अधिग्रहण कानून को लागू कराने के लिए वह तीन बार अध्यादेश लेकर आयी। आर्थिक सर्वेक्षण 2015 में जब यह बात सामने आयी कि निजी क्षेत्र के व्यापार में समस्या जमीन अधिग्रहण नहीं बल्कि कच्चा माल, पैसों की कमी आदि की है और देशभर में अधिग्रहण अध्यादेश के खिलाफ किसानों की जबरदस्त लहर उठी, इससे सरकार अगला अध्यादेश यह कह कर नहीं लायी कि यह अध्यादेश किसान विरोधी था।

आज जरूरत इस बात की है कि पुनर्वितरित करके भूमिहीनों को भूमि देनी चाहिए और खेती में लागत को कम करना चाहिए जिससे देश की बड़ी आबादी में खुशहाली पहुँच सके। लेकिन जैसा कि हम लोगों ने देखा कि किस तरह सरकारें इसके उलट छोटे किसानों से जमीन छीनकर बड़े पूँजीपतियों को सौंप रही हैं। जनहित के नाम पर पूँजीपतियों की तिजोरी भर रही हैं। इसका विरोध करने पर विकास विरोधी और राष्ट्रद्रोही तक कहा जाना आज बहुत आम बात हो गयी है।

--वरुण चौधरी

जनहित के नाम पर भूमि अधिग्रहण से किसका हित?

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) की रिपोर्ट कहती है कि एक औसत कृषि परिवार सभी स्रोतों से सिर्फ 6500 रुपये महीने में अपनी गुजर-बसर करता है। रिपोर्ट में आगे पता चलता है कि कितनी तेजी से किसानों की जमीन छीनकर उन्हें भूमिहीन बनाया जा रहा है। 2002 से 2012 के बीच औसतन प्रति ग्रामीण परिवार की जमीन लगभग 20 फीसदी घटी है। 2002-03 में औसतन प्रति परिवार 0.725 हेक्टेयर जमीन घटकर 2012-13 में 0.592 हेक्टेयर रह गयी है। जहाँ 1950 और 1960 के भूमि सुधार अधिनियम का उद्देश्य भूमिहीनों के हित में भूमि पुनर्वितरण करना था, वहीं एनएसएसओ के आँकड़ों से पता चलता है कि जनहित के नाम पर भूमि अधिग्रहण से सिर्फ बड़े-बड़े कॉरपोरेट घरानों को फायदा पहुँचाया जा रहा है। जमीन किसानों के लिए रोजी रोटी का एक जरिया है लेकिन सरकार ने नीतियाँ बनाकर किसानों से उनकी रोजी-रोटी छीनने का काम किया है।

कैग की एक रिपोर्ट के अनुसार उड़ीसा सरकार ने सन 2000 से 2012 के बीच 29,769 एकड़ जमीन का अधिग्रहण किया, जिसमें से 14,297 एकड़ जमीन 33 निजी कम्पनियों के लिए अधिग्रहित की गयी। सभी अधिग्रहण जनहित के नाम पर हुए और कानून की शर्तों का पालन नहीं किया गया। भूमि अधिग्रहण पर कैग (सीएजी) की रिपोर्ट पर नजर डालें तो पता चलता है कि लगभग सभी सरकारें इस अधिनियम का खुला उल्लंघन करती रही हैं।

2 अक्टूबर 2017 से जयपुर के नींदड़ क्षेत्र के किसानों ने जयपुर विकास प्राधिकरण से अपनी जमीन कब्जामुक्त कराने के लिए 'जमीन समाधि सत्याग्रह' आन्दोलन की शुरुआत की। ये किसान वैसे तो पहले भी इसी मुद्दे पर आन्दोलन करते रहे हैं, लेकिन बहरी सरकार और अन्धी मीडिया तक अपनी बात पहुँचने के लिए इस बार किसानों ने बहुत ही रचनात्मक तरीका अपनाया। किसानों ने जमीन में गर्दन तक गड्ढे खोदे और उनमें खड़े होकर आन्दोलन किया। किसानों का कहना है कि जयपुर विकास प्राधिकरण उनकी खेती की जमीन पर जबरदस्ती कब्जा कर रहा है। खेती पर निर्भर ये किसान अधिग्रहण के चलते बेरोजगार होने के कगार पर हैं।

यूँ तो देश में जमीनों पर कब्जा 1894 के भूमि अधिग्रहण अधिनियम के बाद से ही चल रहा है लेकिन 1990 के बाद आर्थिक नवउदारवादी नीतियों के परिणामस्वरूप भूमि अधिग्रहण की रफ्तार न केवल तेजी से बढ़ी है बल्कि अधिग्रहण के तरीकों और उद्देश्यों में भारी फेरबदल हुए हैं। पहले जब व्यापार के लिए पूँजीपतियों को जमीन की जरूरत पड़ती थी तो जमीन का मूल्य जमीन मालिक तय करता था। लेकिन अब पूँजीपतियों के हित में सरकार ने इसका हल इस तरह निकाला कि जनहित के नाम पर खुद सरकार किसानों से जमीन लेती है और पूँजीपतियों को सौंप देती है। क्योंकि ऐसा अधिग्रहण जनहित के नाम पर होता है तो यह जमीन पूँजीपतियों को पहले से बहुत कम कीमत में मिल जाती है। राजस्थान ही नहीं देश के सभी हिस्सों में भूमि अधिग्रहण बहुत तेजी से चल रहा है, जिसके चलते लाखों किसानों की रोजी-रोटी का जरिया खत्म हो गया और बड़ी संख्या में किसान आत्महत्या करने पर मजबूर भी हुए हैं। कई जगहों पर किसानों ने इसके खिलाफ हथियारबन्द संघर्ष भी किया है। सिंगूर और भट्टा पारसौल जैसे मामले इसका उदाहरण हैं। गुड़गाँव से लेकर नोएडा तक देश भर में बसाये गये सूचना तकनीक के केन्द्रों के लिए राज्य सरकारों ने किसानों से जमीन छीनकर बड़े उद्योगपतियों को बहुत कम कीमत में बेची है। जनहित और नये रोजगार पैदा करने के नाम पर यह सब किया जा रहा है।

सरकार ने "भूमि अधिग्रहण अधिनियम 1894" में एक संशोधन किया था। इस संशोधन में गैर सरकारी कम्पनियों के लिए भूमि अधिग्रहण करने की शर्तें बनायी गयी थीं। कोई भी कम्पनी सरकार की अनुमति के बिना वह जमीन किसी और उद्देश्य के लिए इस्तेमाल नहीं कर सकती। जमीन का दुरुपयोग होने पर सरकार कम्पनी मालिक से जमीन छीन सकती है, अधिग्रहण होने से पहले कृषि अधिकारी से परामर्श जरूरी है और कृषि जमीन तभी ली जा सकती है जब परियोजना के लिए उचित गैर कृषि भूमि न मिले।

2013 में पिछली केन्द्र सरकार ने एक ऐसा भूमि अधिनियम संसद में पास कराया जिसका उद्देश्य जबरन भूमि अधिग्रहण को रोकना था। इस अधिनियम के मुताबिक निजी क्षेत्र के लिए अधिग्रहण तभी होगा जब कम से कम 80 फीसदी भूमि के मालिकों की रजामंदी हो। मुआवजे की राशि जमीन के बाजार मूल्य

शेष पृष्ठ 42 पर...

वैश्विक बाजार का नवउदारवादी भगवान

--पारिजात

पिछले दिनों छोटी-बड़ी अदालतों से आये तमाम फैसलों को देखते हुए, बहुत कम उम्मीद थी कि डेरा सच्चा सौदा के प्रमुख गुरमीत राम रहीम जी इन्साँ को कोई सजा होगी। लेकिन बलात्कार का दोषी मानते हुए सीबीआई की विशेष अदालत ने उसे बीस साल की सजा सुनायी। अभी 15 साल पुराने बलात्कार के दो मामलों में ही सजा सुनायी गयी है, हत्या के दो और मामलों में फैसला आना अभी बाकी है। हरियाणा के पंचकुला में सजा सुनाये जाने के बाद उसके भक्तों द्वारा भड़की हिंसा में लगभग 32 लोग मारे गये और कई अन्य घायल हुए। राम रहीम की करीबी और मुँहबोली बेटी हनिप्रीत की हाल ही में हुई गिरफ्तारी के बाद हरियाणा पुलिस ने माना कि अराजकता फैलाने के लिए डेरा की ओर से भक्तों को 1.5 करोड़ रुपये दिये गये थे। सजा सुनाये जाने से 10 दिन पहले, यानी 15 अगस्त को हरियाणा के एक वरिष्ठ मंत्री ने राम रहीम को जन्म दिन के उपहार के रूप में सरकारी खजाने से 51 लाख रुपये दान में क्यों दिये, इसकी चर्चा आगे की जायेगी। फिलहाल राम रहीम ने उच्च न्यायालय में सीबीआई कोर्ट के फैसले के खिलाफ अपील दायर की है जिसमें जल्द ही सुनवानी होनी है। आगे फैसला तथ्यों के आधार पर होगा या ''जन भावनाओं'' की कद्र करते हुए, यह भविष्य का विषय है लेकिन फिर भी पिछले दिनों छोटी-बड़ी अदालतों से आये तमाम फैसलों पर ध्यान जाना लाजमी ही है।

बाबाओं के काले कारनामे रोज ही उजागर हो रहे हैं। हाल के वर्षों में कई बाबाओं-महंतों को जेल की हवा खानी पड़ी है। उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले के पुलिस रिकॉर्ड कहते हैं कि अयोध्या में कम से कम 350 ऐसे घोषित रूप से आध्यात्मिक साधु हैं जिन पर पिछले कुछ सालों में हत्या, बलात्कार, जमीन कब्जाने और डकैती के आरोप दर्ज हैं। रिकॉर्ड ये भी बतातें हैं कि 7000 से भी ज्यादा संख्या में मन्दिर, मठ और साधुओं के आश्रम अपराधों का अड्डा बन गये हैं। (वेंकटेश रामकृष्णन, फ्रंटलाइन, सितम्बर, 2017) आसाराम, रामपाल, नित्यानंद और अब राम रहीम जैसे बाबा-महाराज उन चुनिन्दा लोगों में से हैं जो हाल के दिनों में सजा मिलने के बाद ज्यादा कुख्यात हुए और राष्ट्रीय समाचारों में छाये रहे। ज्यादा कुख्यात न हो पाने के चलते कइयों के नाम से हम भी वाकिफ नहीं, लेकिन अपने-अपने इलाके में इनका अच्छा खासा प्रभाव है और इनका कारोबार लगातार बढ़ता ही जा रहा है। बताया जा रहा है कि राम रहीम के 6 करोड़ अनुयायी हैं। ऐसे ही अन्य और साधुओं बाबाओं के अनुयायियों को जोड़ लिया जाय तो यह संख्या कई करोड़ में पहुँचती है।

राम रहीम ने डेरा की चौधराहट उस वक्त सम्भाली जब देश भंयकर आर्थिक संकट से जूझ रहा था। खर्चा चलाने के लिए भारत सरकार को सोना गिरवी रखना पड़ा। इसी वक्त दुनिया के कई देशों में विनाशक परिणाम लाने वाली नयी आर्थिक नीतियों को अर्थव्यवस्था के रामबाण के रूप में पेश किया गया। वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण की इन नीतियों के चलते भारतीय राज्य ने अपना कल्याणकारी राज्य का चोला उतार फेंका और जनता की सुख, समृद्धि और खुशहाली को बाजार के निर्मम हाथों में सौंप दिया। बाजारवाद के पैरोकारों ने यह प्रचारित किया कि बाजार खुद इतना शक्तिशाली हो गया है कि उसके अदृश्य हाथ ही छूमन्तर से सारी परेशानियों का हल कर देंगे। लेकिन ऐसा हुआ नहीं। बाजार की लुटेरी ताकतें जनता को मिली थोड़ी-बहुत सुख सुविधाओं को भी लील गयीं। महँगाई तेजी से बढ़ी, शिक्षा, चिकित्सा और रोजगार दिनों-दिन जनता की पहुँच से दूर होते चले गये।

बाजार की इस अदृश्य शक्ति ने बहुसंख्यक जनता को भले ही नरक की ओर धकेला, लेकिन एक छोटे से तबके लिए स्वर्ग का निर्माण भी किया। आई टी प्रोफेशनलों, मैनेजमेंट गुरुओं, इंटीरियर डेकोरेटर तथा इसी किस्म के धन्धों में लगे लोगों के लिए बाजार की अदृश्य शक्ति ने निश्चित रूप से जादू की छड़ी घुमा दी।

प्रसिद्ध जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर का मानना था कि ''पूँजीवादी चेतना को सर्वोत्तम तरीके से सम्पूर्णता में तर्कवाद के विकास के रूप में समझा जा सकता है''(प्रोटेस्टेंट एथिक्स एण्ड स्प्रिट ऑफ कैपिटलिज्म)। लेकिन नवउदारवादी पूँजीवाद ने इसे झुठला दिया। तर्कवाद की जगह आस्था का प्रभाव बढ़ा। नवउदारवादी पूँजीवाद से सबसे ज्यादा लाभ कमाने वाला यही 'स्वर्गवासी' तबका आज आध्यात्म का सबसे बड़ा अवलम्ब भी बन गया है। आज पंजाब-हरियाणा में छोटे-बड़े लगभग 9000 डेरे हैं। किसी भी अन्य धार्मिक मठ-मन्दिर की तरह यहाँ भी तर्क के लिए कोई जगह नहीं। इनके अनुयायियों में जहाँ गरीब और सामाजिक रूप से सबसे ज्यादा उत्पीड़ित

जातियों की बहुसंख्या है, वहीं नवधनाड्यों की भी अच्छी-खासी संख्या मौजूद है।

नवउदारवादी वैश्वीकरण, जातीय असमानता और आध्यात्म

जिस वक्त भारतीय अर्थव्यवस्था को बाजार के हाथों सौंपा जा रहा था, उसी दौरान सामाजिक न्याय की लड़ाई को भी बाजार की अदृश्य शक्तियों के हवाले कर देने के विचार ने भी जोर पकड़ा। निश्चित रूप से भारतीय समाज की जातीय संरचना में सबसे पिछड़े समुदायों के लिए भौतिक रूप से इस प्रक्रिया में शामिल होना बेमानी था, लेकिन यह भ्रम फैलाया गया कि वैश्वीकरण ने जिस आर्थिक उदारीकरण को आगे बढ़ाया, वह दलितों के जीवन स्तर में सुधार कर रहा है, जातीय बन्धनों से उन्हें मुक्त कर रहा है। रोजगार में जातीय बन्धनों के विपरीत बाजार के बहाव को धर्मनिरपेक्षता की जीत के रूप में प्रस्तुत किया गया। यह माना गया कि आर्थिक उदारीकरण जातीय श्रेणीबद्धता की भौतिक परिस्थितियों को खत्म कर रहा है और जाति के विषय में ब्राह्मणवादी तर्कणा की पकड़ को कमजोर कर रहा है। कुल मिलाकर बाजार को ऊपर उठाने और जाति उन्मूलन की बाधाओं का उन्मूलन करने वाला बताया गया।

दूसरी ओर, राम रहीम आदि के डेरे जो आध्यात्म के नये ठिकाने थे, आकर्षक रूप से निम्न जातियों को प्रभावित कर रहे थे। वैसे तो सिख धर्म में जातियों के लिए कोई जगह नहीं, लेकिन व्यवहार में यह हिन्दू धर्म की जाति व्यवस्था का ही पोषण करता है। जिन दलित जातियों के लिए पारम्परिक सिख गुरुद्वारों में जगह नहीं, उनके लिए राम रहीम जैसे डेरों में सुगम प्रवेश की व्यवस्था थी। समाज के नये मूड मिजाज को ध्यान में रखते हुए 10 साल पहले राम रहीम ने जश्न-ए-इंसाँ नाम से एक समारोह का आयोजन शुरू किया था। डेरा में शामिल होने के इच्छुक लोगों को इस समारोह में 47 बिन्दुओं की शपथ दिलायी जाती थी, जिनमें सबसे पहली शपथ अपने जातिसूचक नाम के स्थान पर 'इंसाँ' उपनाम जोड़ने को प्रोत्साहित किया जाता था। इंसाँ यानी मनुष्य-- होमो सेपियंस। एक ऐसे समाज में जहाँ उपनाम जातीय वर्चस्व को पुनर्जीवित करता है वहाँ इन्सानियत का प्रचार सहज ही उन जातियों को आकर्षित करता है जिनके सम्मानजनक जीवन को सदियों से नकारा जाता रहा है। इसके साथ ही डेरा उन भौतिक जरूरतों के लिए आगे आया जिन्हें नवउदारवादी पूँजीवाद ने आम जनता से छीन लिया और जिनसे दलित जातियाँ पहले ही महरूम रहती आयी थीं। डेरा के पास सामाजिक कल्याण के लिए स्कूल, कॉलेज, अस्पताल और प्रशिक्षण केन्द्र का लुभावना नेटवर्क मौजूद है। दलित और अन्य पिछड़ी जातियों के बीच से जिस बहुत नगण्य हिस्से ने नवउदारवादी पूँजीवाद के अमृत का छींटा चखा, उसके लिए तो सामाजिक-सांस्कृतिक उन्नतिकरण का यह एक जरिया था। लेकिन कल्याणकारी राज्य का चोला उतार फेंकने के बाद राज्य ने जिस बहुसंख्य आबादी को रौरव नर्क में धकेला, उसके लिए भी कम से कम भौतिक और मानसिक शान्ति के स्तर पर यही केन्द्र बचे थे।

धर्म-राज्य-कॉरपोरेट गठजोड़, नवउदारवाद का नया पैंतरा

संवैधानिक रूप से धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र होने के बावजूद हमारा देश अघोषित रूप से बहुसंख्यक हिन्दू धर्म का पालन-पोषण करता है। चिन्हों-प्रतीकों के जरिये इसका विस्तार करता है। धर्म राज्य के संचालन में मदद करता है और राज्य धर्म को प्रचारित करने में। राम रहीम ने 2009 के चुनावों में कांग्रेस पार्टी का खुला समर्थन किया, तो 2014 में भाजपा का समर्थन करके हरियाणा विधानसभा में 4 से बढ़कर 47 सीट हासिल करने में मदद की। बदले में हरियाणा के एक मंत्री ने राम रहीम को जन्म दिन के उपहार स्वरूप सरकारी खजाने से 51 लाख रुपये दिये। प्रधानमंत्री मोदी ने डेरा सच्चा सौदा का दौरा किया और उसका महिमा गान गाया। साथ ही सजा सुनाये जाने और उसके बाद तक सरकार उसके बचाव के लिए तरह-तरह के प्रयास करती रही। आध्यात्म और कल्याण के साथ-साथ कॉरपोरेट जगत में भी डेरे ने घुसपैठ की। राम रहीम द्वारा बनायी गयी तीनों एक्शन फिल्मों ने बॉक्स ऑफिस में खूब कमाई की और एमएसजी ब्रांड से चावल, शहद, बिस्कुट आदि बेचकर प्रतिदिन 16 लाख रुपये की कमाई का कारोबार भी शुरू किया।

संविधान को ताक पर रखते हुए हमारे देश में धर्मनिरपेक्ष का कदम-कदम पर माखौल उड़ाया जाता है। जैसे किसी सार्वजनिक-सरकारी कार्यक्रम की शुरुआत दीप जलाकर की जाती है। यह ज्ञान का दीपक नहीं, न ही बुद्ध के अप्पा दीपो भव से ही इसका कोई लेना-देना है। यह सिर्फ हिन्दू पद्धति का मूर्तिपूजक दीपक है और आज भारतीय समाज में सहज स्वीकार्य है। धर्मनिरपेक्ष देश आज एक खास धर्म के अनुष्ठान को सार्वभौमिक धर्म प्रतीक के रूप में स्थापित कर चुका है।

आध्यात्म बनाम तर्क

धार्मिकता और आध्यात्म तर्क के दुश्मन हैं। लेकिन नवउदारवाद का धर्म-राज्य-कॉरपोरेट गँठजोड़ काफी सफल होता नजर आ रहा है। 1990 के बाद से इसमें काफी इजाफा हुआ है। 2004 के राष्ट्रीय चुनाव सर्वेक्षण में पूजा-प्रार्थना करने वाली भारतीय जनसंख्या के एक प्रतिनिधि नमूने में 60 प्रतिशत धनी और मध्यम वर्गीय हिन्दुओं ने कहा कि वे रोज पूजा करते हैं, जबकि 32 प्रतिशत गरीब तथा 42 प्रतिशत अति गरीब लोगों ने ही ऐसा करने को स्वीकारा। रोज पूजा-अर्चना करने वालों में 58 प्रतिशत उच्च सवर्ण जातियों से थे। दलित और आदिवासी समुदायों में यह प्रतिशत 35 था। पढ़े-लिखे (कॉलेज की डिग्री प्राप्त) लोगों कि संख्या (53 प्रतिशत) अशिक्षित लोगों (38 प्रतिशत) और प्राथमिक शिक्षा प्राप्त (48 प्रतिशत) से अधिक थी। यानी उच्च आय वर्ग, उच्च

शिक्षित और उच्च जातियों में रोज पूजा-अर्चना करने वालों की संख्या अधिक थी। 2009 में इसके पुनर्परीक्षण में भी रुझान यही रहा। लेकिन दलित और आदिवासी समुदायों में इसमें भयंकर रूप से बढ़ोतरी दर्ज हुई। 2004 की तुलना में दलितों में यह आँकड़ा बढ़कर 40 प्रतिशत और आदिवासी समुदाय में 43 प्रतिशत पहुँच गया। (मीरा नंदा, द गॉड मार्केट) यानी जिस तेजी से नवउदारवाद रोजमर्रा के जीवन को नारकीय बनाता जा रहा है, उसी गति से धार्मिकता और आध्यात्म के रुझान में भी वृद्धि हो रही है। और जीवन की दुश्वारियों के खिलाफ संघर्ष उतना ही कमजोर होता जा रहा है या राह भटक कर इधर-उधर घूम रहा है। यह सब खुद-ब-खुद नहीं हुआ बल्कि इसके पीछे सचेत प्रयास की भूमिका रही है। कट्टर साम्प्रदायिक संगठन विश्व हिन्दू परिषद के नेता प्रवीण तोगड़िया ने एक भाषण में कहा था कि 90 प्रतिशत हिन्दू धार्मिक हैं, हम इनकी धार्मिकता को वोट बैंक में बदल देंगे। आज साम्प्रदायिक संगठन ऐसा कर चुके हैं।

2009 के आम चुनावों में भारतीय जनता पार्टी को मिली हार को परिभाषित करते हुए तर्क दिये गये थे कि अब आरएसएस और भाजपा जैसे कट्टरपंथी हिन्दुत्ववादियों के लिए जनमानस में कोई जगह नहीं रह गयी है। तर्क यह था कि 1980-90 के दशक में नेहरू की नीतियों की असफलता से क्रुद्ध नौजवानों को कट्टरपंथी हिन्दुत्व में शामिल करना जितना आसान था आज नवउदारवादी वैश्वीकरण से उपजी समृद्धि में ऐसा होना असम्भव है और 2009 के आम चुनावों ने इस बात को ही पुख्ता किया है (एक दक्षिणपंथी बुद्धिजीवी स्वनदास गुप्त)। लेकिन यह विचार पाँच साल तक भी अपना अस्तित्त्व नहीं रख पाया और 2014 के आम चुनावों में इसकी धज्जियाँ उड़ गयीं। नरमपंथी हिन्दुत्व ने कट्टरपंथी हिन्दुत्व की हिंसा पर ठप्पा लगाकर देश की सर्वोच्च सत्ता पर पहुँचा दिया है।

नवउदारवादी पूँजीवाद यही चाहता है। तर्क अन्याय की जड़ों को खोद कर उसमें मट्ठा डालने का काम करता है और आध्यात्म ने अभी तक के इतिहास में अन्याय का ही पक्षपोषण किया है। लेकिन आज हकीकत यही है कि अन्याय के पक्षपोषक फल-फूल रहे हैं, नवउदारवादी पूँजीवाद खून के हर कतरे से मुनाफा निचोड़ रहा है और तर्क अस्तित्त्व की लड़ाई में पिछड़ रहा है।

तो क्या मान लिया जाये कि पुनर्जागरण, प्रबोधन और क्रान्ति की जिस ज्वाला ने धर्म-केन्द्रित राजसत्ता को भस्म करके मानव-केन्द्रित राजसत्ता का नवोन्मेष किया था, उसका अन्त हो गया? इतिहास पीछे मुड़कर नहीं देखता। यह संकटग्रस्त पूँजीवाद को कुछ दिन और टिकाये रखने का अन्तिम प्रयास है। सचेतन रूप से इतिहास निर्माण के इस युग में इतिहास की अग्रगामी और चेतनशील वर्ग शक्तियों के प्रयासों पर निर्भर है कि वे हाथ पर हाथ धरे अतीत के भूत-प्रेतों का नृत्य देखें या उन्हें उनके यथोचित स्थान तक पहुँचाने के लिए करोड़ों जनगण की आशा और आकाक्षा को धरती पर उतारने के लिए जान की बाजी लगाकर जुट जायें।

प्रेम/इवान तुर्गनेव

शिकार से लौटते हुए मैं बगीचे के मध्य बने रास्ते पर चला जा रहा था, मेरा कुत्ता मुझसे आगे-आगे दौड़ा जा रहा था। अचानक उसने चौंककर अपने डग छोटे कर दिये और फिर दबे कदमों से चलने लगा, मानो उसने शिकार को सूँघ लिया हो। मैंने रास्ते के किनारे ध्यान से देखा। मेरी नजर गौरेया के उस बच्चे पर पड़ी जिसकी चोंच पीली और सिर रोंएदार था। तेज हवा बगीचे के पेड़ों को झकझोर रही थी। बच्चा घोंसले से बाहर गिर गया था। और अपने नन्हे अर्द्धविकसित पंखों को फड़फड़ाते हुए असहाय-सा पड़ा था।

कुत्ता धीरे-धीरे उसके नजदीक पहुँच गया था। तभी समीप के पेड़ से एक काली छाती वाली बूढ़ी गौरेया कुत्ते के थूथन के एकदम आगे किसी पत्थर की तरह आ गिरी और दयनीय एवं हृदयस्पर्शी चींचीं...चूँचूँ...चेंचें... के साथ कुत्ते के चमकते दाँतों वाले खुले जबड़े की दिशा म. फड़फड़ाने लगी।

वह बच्चे को बचाने के लिए झपटी थी और अपने फड़फड़ाते पंखों से उसे ढक-सा लिया था। लेकिन उसकी नन्ही जान मारे डर के काँप रही थी, उसकी आवाज फट गयी और स्वर बैठ गया था। उसने बच्चे की रक्षा के लिए खुद को मौत के मुँह म. झोंक दिया था।

उसे कुत्ता कितना भयंकर जानवर नजर आया होगा! फिर भी यह गौरेया अपनी ऊँची सुरक्षित डाल पर बैठी न रह सकी। खुद को बचाये रखने की इच्छा से बड़ी ताकत ने उसे डाल से उतरने पर मजबूर कर दिया था। मेरा टेजर रुक गया, पीछे हट गया... जैसे उसने भी इस ताकत को महसूस कर लिया था।

मैंने कुत्ते को जल्दी से वापस बुलाया और सम्मानपूर्वक पीछे हट गया। नहीं, हँसिए नहीं। मुझमें उस नन्ही वीरांगना चिड़िया के प्रति, उसके प्रेम के आवेग के प्रति श्रद्धा ही उत्पन्न हुई।

मैंने सोचा, प्रेम मृत्यु और मृत्यु के डर से कहीं अधिक शक्तिशाली है। केवल प्रेम पर ही जीवन टिका हुआ है और आगे बढ़ रहा है।

कहानी

घर जोड़ने की माया

--हजारीप्रसाद द्विवेदी

सन् 1942-43 ई। में मैंने कबीरदास के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी। पुस्तक लिखने की तैयारी दो-ढाई साल से कर रहा था और नाना प्रकार के प्रश्न मेरे मन में उठते रहे। मुझे सबसे अधिक आश्चर्य कबीरदास के परवर्ती साहित्य को पढ़कर हुआ। जिस धर्मवीर ने पीर, पैगम्बर, औलिया आदि के भजन-पूजन का निषेध किया था, उसी की पूजा चल पड़ी, जिस महापुरुष ने संस्कृत को कूपजल कहकर भाषा के बहते नीर को बहुमान दिया था, उसी की स्तुति में आगे चलकर संस्कृत भाषा में अनेक स्रोत लिखे गये और जिसने ब्रह्माचारों के जंजाल को भस्म कर डालने के लिए अग्नि तुल्य वाणियाँ कहीं, उसकी उन्हीं वाणियों से नाना ब्रह्माचारों की क्रियाएँ सम्पन्न की जाने लगीं। इससे बढ़कर आश्चर्य क्या हो सकता है? कबीरोपासना पद्धति में सोने का, उठने का, दिशा जाने का, तूँबा धोने का, हाथ मटियाने का, मुँह धोने का, दातून करने का, जल में पैठने का, स्नान करने का, तर्पण करने का, चरणमृत देने और लेने का, जल पीने का, घर बुहारने का, चूल्हे में आग जलाने का, परसने का, अँचाने का तथा अन्य अनेक छोटे-छोटे कर्मों का मंत्र दिया गया है। टोपी लगाने का, दीपक बारने का, आसन लगाने का, कमर कसने का, रास्ता चलने का सुमिरन दिया हुआ है। ये मंत्र 'बीजक' आदि ग्रंथों की वाणियों से लिए गये हैं। आवश्यकतानुसार उनमें थोड़ा बहुत घटा बढ़ा लेने में विशेष संकोच नहीं अनुभव किया गया। वाणियाँ भी जरूरत पड़ने पर बना ली गयी हैं। इस प्रकार दातून का मंत्र यह है--

सत्त की दातौन संतोष की झारी।
सत्त नाम ले घसो विचारी॥
किया दातौन भया परकास।
अजर नाम गहा विश्वास॥
अभी नाम ले पहुँचे आय।
कहै कबीर सब लोक सिधाय॥

चूल्हा में आग देने का मंत्र इस प्रकार है--

चूल्हा हमारे चौहटे सब घर तपे रसोई।
सत्त-सुकृत भोजन करें हमको छूत न होई॥

थाली परसने का मंत्र--

चन्दन चौका कंचन थारी।
हीरालाल पदुम की झारी॥
बहुत भाँति जेवनार बनाये।
प्रेम प्रीति सों पारस कराये॥
संत सुहेला भोजन पाईं।
सत्त सुकृति सत्त नाम गुसाँई॥

मेरे मन में बराबर यह प्रश्न उठता रहा कि ऐसा क्यों हुआ। कबीरपंथ की ही यह हालत हो, ऐसा नहीं है। अनेक महान धर्म-गुरुओं के आन्दोलन अन्त तक जाति-पाँति के ढकोसलों, चूल्हा चाकी के निरर्थक विधानों और मंत्र-यंत्र के क्लांतिकर टोटकों में पर्यवसित हो गये हैं। बुद्धदेव ने ईश्वर के विषय में कोई बात तक कहना पसन्द नहीं किया, परन्तु उनका प्रवर्तित विशाल धर्म-मत मंत्र यंत्र में समाप्त हो गया। यह नहीं कहा जा सकता कि जनता में धर्म गुरुओं के प्रति श्रद्धा नहीं है। श्रद्धा का अतिरेक ही तो सर्वत्र पाया जाता है। कबीरदास ने अवतारों और पैगम्बरों की पूजा की कड़े शब्दों में निन्दपरंता की। उनके शिष्यों ने श्रद्धा के अतिरेक में उन्हें जिस प्रकार भवफंद को काटनेवाला समझकर स्तुति की, वह शायद किसी भी पीर-पैगम्बर के लिए ईर्ष्या की वस्तु हो सकती है--

नमो आद ब्रह्मं अरूपं अनामं।
भइ आप इच्छा रचे सर्व धामं॥
न जानामि कोई करै कौन ख्यालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालु॥
तुही कोटि कोटान ब्रह्मांण कीन्हों।
तुही सर्व को सर्वदा सुक्ख दीन्हों।
बसे सर्व में सर्व रूपं दयालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालु॥
सबै संत कारन्न तोही बतावै।
यही वेद ब्रह्मादि षट् शास्त्र गावैं॥
जपे नाम तेरी भजे जो त्रिकालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालुं॥
लहै ज्ञान विज्ञान कैवल्यं पूरं।
महामोह माया रहे ताहि दूरं॥
लखे ताहि उर में महा चित्तकालं।
नमोहं नमोहं कबीरं कृपालुं॥

फिर वह कौन-सी वस्तु है, जो अनुयायियों को अपने गुरु के उपदेशों के प्रतिकूल चलने को बाध्य करती है? यह कहना अनुचित है कि अनुयायी जान-बूझकर अपने धर्मयुग के वचनों की अवमानना करते हैं, वस्तुतः अनुयायी धर्मयुग की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही बहुधा गलत मार्ग ग्रहण करते हैं। वे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ऐसे साधनों का उपयोग निस्संकोच करने लगते हैं, जो लक्ष्य के साथ मेल

नहीं खाते और बहुधा उसके विरोधी होते हैं। हजरत ईसामसीह अहिंसा मार्ग के प्रवर्तक थे, परन्तु उनकी महिमा संसार में प्रतिष्ठित करने के लिए सौ-सौ वर्षों तक रक्त की नदियाँ बहती रही हैं। हमें इतिहास को ठंडे दिमाग से समझना चाहिए। सचाई का सामना करना चाहिए।

जब किसी महापुरुष के नाम पर कोई सम्प्रदाय चल पड़ता है तो आगे चलकर उसके सभी अनुयायी कम बुद्धिमान ही होते हैं, ऐसी बात नहीं। कभी-कभी शिष्य परम्परा में ऐसे भी शिष्य निकल आते हैं, जो मूल सम्प्रदाय प्रवर्त्तक से भी अधिक प्रतिभाशाली होते हैं। फिर भी सम्प्रदाय स्थापना का अभिशाप यह है कि उसके भीतर रहने वाले का स्वाधीन चिन्तन कम हो जाता है। सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा ही जब सबसे बड़ा लक्ष्य हो जाता है, तो सत्य पर से दृष्टि हट जाती है। प्रत्येक बड़े 'यथार्थ' की सम्प्रदाय के अनुकूल संगति लगाने की चिन्ता ही बड़ी हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधन की शुद्धि की परवा नहीं की जाती। परन्तु यह भी ऊपरी बात है। साधन की शुद्धि की परवा न करना भी असली कारण नहीं है, वह भी कार्य है, क्योंकि साधन की अशुचिता को सत्य भ्रष्ट होने का कारण मान लेने पर भी यह प्रश्न बना ही रह जाता है कि विज्ञान और प्रतिभाशाली व्यक्ति भी साधन की अशुचिता के शिकार क्यों बन जाते हैं। कोई ऐसा बड़ा कारण होना चाहिए, जो बुद्धिमानों की अक्ल पर आसानी से परदा डाल देता है। जहाँ तक कबीरदास का सम्बन्ध है, उन्होंने अपनी ओर से इस कारण की ओर इशारा कर दिया था। घर जोड़ने की अभिलाषा ही इस प्रवृत्ति का मूल कारण है। लोग केवल सत्य को पाने के लिए देर तक नहीं टिके रह सकते। उन्हें धन चाहिए, मान चाहिए, यश चाहिए, कीर्ति चाहिए। ये प्रलोभन 'सत्य' कही जानेवाली बड़ी वस्तु से अधिक बलवान साबित हुए हैं। कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि जो उनके मार्ग पर चलना चाहता हो, अपना घर पहले फूँक दे--

कबिरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।
जो घर फूँके आपना सो चले हमारे साथ॥

घर फूँकने का अर्थ है धन और मान का मोह त्याग देना, भूत और भविष्य की चिन्ता छोड़ देना और सत्य के सामने सीधे खड़े होने में जो कुछ भी बाधा हो, उसे निर्ममतापूर्वक ध्वंस कर देना। पर सत्यों का सत्य यह है कि लोग कबीरदास के साथ चलने की प्रतिज्ञा करने के बाद भी घर नहीं फूँक सके। मठ बने, मंदिर बने, प्रचार के साधन आविष्कार किये गये और उनकी महिमा बताने के लिए अनेक पोथियाँ रची गयीं। इस बात का बराबर प्रयत्न होता रहा कि अपने इर्द-गिर्द के समाज में कोई यह न कह सके कि इनका अमुक कार्य सामाजिक दृष्टि से अनुचित है। यानी् विद्रोही बनने की प्रतिज्ञा भूल गयी, सुलह और समझौते का रास्ता स्वीकार कर लिया गया। आगे चलकर 'गुरु-पद' पाने के लिए हाईकोर्ट की भी शरण ली गयी।

यह कह देना कि सब गलत हुआ, कुछ विशेष काम की बात नहीं हुई, क्यों यह गलती हुई? माया से छूटने के लिए माया के प्रपंच रचे गये, यह सत्य है। कबीरपंथ का नाम तो यहाँ इसलिए आ गया है कि ये बातें कबीरपंथी साहित्य पढ़ते-पढ़ते मेरे मन में आयी हैं, नहीं तो सभी महापुरुषों के प्रवर्तित मार्गों की यही कहानी है। माया का जाल छुड़ाये छूटता नहीं, यह इतिहास की चिरोद्घोषित वार्ता सब देशों और सब कालों में समान भाव से सत्य रही है।

स्पष्ट ही मालूम होता है कि घर जोड़ने की माया बड़ी प्रबल है और संसार का बिरला ही कोई इसका शिकार होने से बच सकता है। इतनी प्रबल शक्ति के यथार्थ को उलटा नहीं जा सकता। उसको मानकर ही उसके आकर्षण से बचने की बात सोची जा सकती है। स्वयं कबीरदास ने न जाने कितनी बार इस प्रबल माया की शक्ति के प्रति लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है--

ई माया रघुनाथ की बौरी खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनिया चुनि-चुनि मारे काहु न राखे नेरा हो।
मौनी पीर दिगंबर मारे ध्यान धरते जोगी हो।
जंगल में के जंगम मारे माया किनहु न भोगी हो।
वेद पढ़ते बेदुआ मारे पूजा करते स्वामी हो।
अरथ विचारत पंडित मारे बाँधे सकल लगामी हो।

मैं ज्यों-ज्यों कबीरपंथी साहित्य का अध्ययन करता गया, त्यों-त्यों यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी कि इर्द-गिर्द की सामाजिक व्यवस्था का प्रभाव बड़ा जबरदस्त साबित हुआ है। उसने सत्य, ज्ञान, भक्ति और वैराग्य को बुरी तरह दबोच लिया है। केवल कबीरपंथ में ही ऐसा नहीं हुआ है। सब बड़े-बड़े मतों की यही अवस्था है। समाज व मान-प्रतिष्ठा का साधन पैसा है। जब चारों ओर पैसे का राज हो तब उसके आकर्षण को काट सकना कठिन है। पंथ की प्रतिष्ठा के लिए भी पैसा चाहिए। जो लोग इस आकर्षण को न काट सकनेवालों की निन्दा करते हैं, वे समस्या को बहुत ऊपर-ऊपर से देखते हैं।

मैं बराबर सोचता रहा कि क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि समाज से पैसे का राज खतम हो जाय। हमारे समस्त बड़े प्रयत्न इस एक चट्टान से टकरा कर चूर हो जाते हैं। क्या कोई ऐसी व्यवस्था हो सकती है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने मतलब भर का पैसा पा जाय और उससे अधिक पा सकने का कोई उपाय ही न हो? यदि ऐसा हो सकता तो वह समूचा बेहँदा साहित्य लिखा ही न जाता, जो केवल पंथों और उनके प्रवर्तकों की महिमा बढ़ाने के उत्साह में बराबर उन बातों को ढकने का प्रयत्न करता है, जिन्हें पंथ के प्रवर्तक ने कठिन साधना से प्राप्त किया था। पुराने तांत्रिक आचार्यों ने बताया था कि जो राग बन्धन के कारण होते हैं, वे ही मुक्ति के भी कारण होते हैं। काम-क्रोध आदि मनोवृत्तियाँ, जिन्हें शत्रु कहा जाता है, सुनियंत्रित होकर परम सहायक मित्र बन जाती हैं। क्या कोई ऐसी सामाजिक व्यवस्था नहीं बन सकती, जिसमें घर जोड़ने की माया जीती भी रहे और सत्य के मार्ग में बाधक भी न हो?

मेरा मन कहता है कि यह सम्भव है।

चिली में महिलाओं की जिन्दगी के लिए गाना

--मक्सिम लॉरी

(महिलाओं के प्रति क्रूरता और हिंसा के खिलाफ चिली की महिलाओं द्वारा शुरू किये गये सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रतिरोध की यह दास्तान 'जीवन-संघर्ष-सृजन के प्रति उम्मीद जगाती है।)

चिली के पुराने कोयला खनन क्षेत्र के मध्य भाग में एलिजाबेथ विल्मा यूरीब और उनके पति एलन वेलासक्वेज, कॉर्नल शहर में अपने पड़ोसियों के बीच "बहुत ही शालीन और दोस्ताना दम्पती के रूप में" पहचाने जाते थे। 16 नवम्बर 2016 को वे हैरान रह गये, जब यूरीब को उसी के तीस साल के पति ने गला दबाकर और फिर छुरा घोंपकर जान से मार दिया, वह स्कूल की अध्यापिका और दो बच्चों की माँ थी। अगले दिन उसका पचपनवाँ जन्मदिन था।

राष्ट्र की सैन्य हुकूमत (1973-1990) के अधीन, हजारों राजनीतिक कैदी और उनमें भी खासतौर पर महिलाएँ, यौन हिंसा और अत्याचार की शिकार थीं। आज चिली में एक महिला की उसके पति या प्रेमी द्वारा हत्या इतनी सामान्य वारदात हो गयी है कि मीडिया नियमित रूप से ऐसी हत्याओं को "नारीहत्या" (फेमिसाइड) के रूप में वर्गीकृत करता है। 2016 में एलिजाबेथ यूरीब की मौत चिली में एक साल के भीतर पचासवीं नारीहत्या थी।

जैसे ही उनकी असामयिक और निन्दनीय मौत की खबर चिली के मीडिया में फैली, 300 किलोमीटर उत्तर की ओर दर्जन भर महिलाओं का एक समूह राजधानी सैंतिआगो के पास केजन डेल मायपू घाटी के मनोरम जगह पर इकट्ठा हुआ। कई लोग नदी के ऊपर काफी ऊँचे दृढ़ पहाड़ों की छाया में बने दो-मंजिला लकड़ी के बिखरे मकान- "द ट्रीमोन्यू आध्यात्मिक और सम्पूर्ण स्वास्थ्य केन्द्र" में अपने-अपने थैलों के साथ गिटार और तबला आदि वाद्ययंत्र ले गये। 12 महिलाएँ गीतकार व संगीतकार थीं और वे सैंतिआगो की 'प्रचलित शिक्षा और स्वास्थ्य संस्था' (ईपीईएस) के सहयोग से संचालित एक कार्यशिविर के लिए प्रतिष्ठित गायक, नारीवादी और शान्तिप्रिय कार्यकर्ता हॉली नियर द्वारा बुलायी गयी थीं। यह कार्यशिविर महिलाओं पर होने वाली हिंसा के खिलाफ गीत-संगीत की ताकत को निर्देशित करने के लिए सप्ताह के अन्त में आयोजित किया गया था।

चालीस से भी ज्यादा वर्षों से, नियर के संगीत ने दुनिया भर में सशस्त्र लड़ाइयों में हुई हिंसा की निन्दा की है। उनकी आवाज ने यौन हमलों के खिलाफ "अँधेरे को वापस लो" अभियानों के दौरान हजारों लोगों को लामबन्द किया, जो 1970 में शुरू हुए थे और सन 2000 की शुरुआत में ये अभियान एक बार फिर जोर-शोर से शुरू हो गये थे। नियर के गीत "वहाँ एक महिला लापता है" ने तानाशाहों की जानबूझकर की गयी लापरवाही और व्यवस्थित मानवाधिकारों के उल्लंघन की अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आलोचना को उभारने में मदद की।

1982 में जब पिनोचे की तानाशाही अपनी बुलंदी पर थी, तब प्रचलित शिक्षा और स्वास्थ्य संस्था (ईपीईएस) स्थापित की गयी थी, यह संस्था रहन-सहन की बेहतर स्थिति और बेहतर स्वास्थ्य के लिए मेहनतकश वर्ग की महिलाओं को संगठित करने में मदद के लिए बनायी गयी थी। अपने 30 से अधिक वर्षों में, ईपीईएस ने सृजनशील सहभागी कार्यक्रमों को विकसित किया था, जिन्होंने जन स्वास्थ्य और मानवाधिकार दोनों की चिन्ता के रूप में, जनता की स्वास्थ्य नीति, एच आई वी/एड्स की रोकथाम और महिलाओं के खिलाफ हिंसा जैसे मुद्दों को आकार देने में मदद की। भित्तिचित्रों और संगीत के रूप में कला ईपीईएस की लोकप्रिय शिक्षा रणनीति का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है।

एक दशक से भी ज्यादा समय से नियर और ईपीईएस आपसी सहयोगी हैं। ईपीईएस ने नियर की चिली में पहली यात्रा आयोजित की और इस गायक ने संगठन के कामों में मदद देने के लिए अमरीका में धन जुटाने वाले समारोहों में भाग लिया। इनके रचनात्मक सहयोग का ताजा नतीजा पिछले वर्ष का कार्यशिविर है, जिसने प्रतिभागियों को अपने बारे में एक नारीवादी कलाकार के रूप में सोचने के लिए आमंत्रित किया और संगीत रचना में सहायक एक अन्तरंग स्थान के निर्माण का संकल्प लिया। लम्बे समय से गीत लेखन की प्रशिक्षक और अपने नाम से दो मूल एल्बम निकालने वाली क्लोडिया स्टर्न ने अनुमान लगाया कि कार्यशिविर संगीत रचना के तकनीकी पहलुओं को उभारेगा। लेकिन हफ्ते के अन्त में उन्होंने जो पाया वह वास्तव में "संगीत रचना तक पहुँचने का एकदम अलग तरीका" था।

महिलाओं के खिलाफ हिंसा के बारे में ईपीईएस का गम्भीर व्याख्यान और नियर के गायन के प्रभावशाली राजनीतिक उपयोग पर चिन्तन-मनन जैसी विषयगत चिन्ताएँ कार्यशिविर के प्रमुख बिन्दु थे। नियर ने गीत लेखन प्रक्रिया की तुलना वीडियो कैमरे की गतिविधि के साथ की जो किसी भी दृश्य पर बहुत करीब से फोकस करता है और फिर चित्र को बड़ा करता जाता है। उन्होंने सलाह दी कि "कोई व्यक्ति अपनी निजी चीजों से शुरुआत कर सकता है और व्यापक स्तर तक जा सकता है या बड़ा दृश्य लेकर उसे छोटा करता जा सकता है। कोई भी ढंग अपनाया जाये, वह कहानी में गहराई पैदा करता है"।

लेकिन द ट्रीमोन्यू आश्रय स्थल भी निजी कहानियों और अनुभवों के आदान-प्रदान और निस्सन्देह गायन के कारण भावनाओं से ओत-प्रोत हो गया था। प्रतिभागियों के बीच गहरे बन्धन बन गये थे, उनमें से कुछ एक-दूसरे को कार्यशिविर से पहले जानते थे। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत व सामूहिक रचना के बीच सामंजस्य बैठाने के लगातार प्रयास के साथ-साथ, महिलाओं के बारे में चिन्हित गानों की रचना के लिए यह आयोजन किया गया था। प्रकृति की ध्वनियों और

शानदार प्राकृतिक दृश्यों के प्रेरणास्वरूप, संगीतकार अपने आप गीत लिखने के लिए अकेले पेड़ों के नीचे, पर्वतों के सामने या घर के छायादार बरामदे में चले गये, फिर अपनी नयी रचनाओं को गाने के लिए वापस आये।

स्टर्न अपने संगीत का वर्णन "बहुत अन्तरंग, अपनी अन्तरात्मा से गाया गया संगीत" के रूप में करती हैं, उसे नियर की गायन पद्धति शुरू में मुश्किल लग रही थी, "यह एक ठोस सन्देश के साथ... रैली में लोगों द्वारा आसानी से गा कर अपने अर्थ को स्पष्ट करने वाली", उनकी खुद की पद्धति की तुलना में "कम अलंकारिक" थी। स्टर्न पहले राजनीतिक विचारों से लैस शब्दों से बचती रहीं, लेकिन अब वह महिलाओं पर होने वाली हिंसा के खिलाफ अपने संगीत को एक माध्यम बनाने की जरूरत के रूप में देखती हैं। अब चुनौती अपनी व्यक्तिगत शैली और दूरदर्शिता से बिना कोई समझौता किये, एक सीधा और ताकतवर सन्देश पहुँचाने की है।

इसके विपरीत, सामाजिक बदलाव के उपकरण के रूप में संगीत एवलीन गोंजालेज के रंगपटल का लम्बे समय से हिस्सा रह चुका है। वह एक गीतकार और नाटककार हैं, जो अपने यहाँ के मूल निवासी मपूचे पूर्वजों की मपुदुनगम भाषा में नियमित रूप से लिखती हैं। गोंजालेज किसी नगर-निगम में महिलाओं के सलाह केन्द्र में मनोवैज्ञानिक हैं, वह मानती हैं कि यह कार्यशिविर "एक बीज था जो एक सृजनशील गठबन्धन को बढ़ावा देगा जो महिलाओं पर हिंसा को रोकने का प्रभावशाली तरीका होगा"।

एक अन्य प्रतिभागी वस्ती माइकल ग्रामीण मपूचे क्षेत्र के केन्द्र में रहती हैं, जब वह बच्ची थीं, तभी से हाशिये पर धकेलने की व्यवस्था और भेदभाव से बहुत अधिक परिचित हो गयी हैं। 'सदियों से रच-बस चुकी इस प्रकार की अदृश्य हिंसा से आजादी और व्यक्तिगत सुधार के उपकरण के रूप में मेरी सृजनशीलता को आगे आने दो'। वह अपने 'स्वप्न-संगीत से जुड़ी महिलाओं का एक संसार... जो सबके लिए अधिक सम्मानित, न्याय-संगत और स्नेहपूर्ण समाज बनाने में मदद करे'– को और मजबूती से देख पाती हैं और कार्यशिविर में इसके महत्त्व के बारे में बात रखती हैं।

महिलाओं के खिलाफ हिंसा का लगातार फैलाव इशारा करता है कि यह चिली के समाज में गहराई से रच-बस गयी है, हालाँकि जरूरी नहीं कि ऐसा स्थायी रूप से हो। कैरेन एंडरसन ईपीईएस की संस्थापक और इसकी अन्तरराष्ट्रीय प्रशिक्षण योजना की निर्देशक हैं, वह कहती हैं कि कार्यशिविर इस दृढ विश्वास के साथ प्रेरित था कि संगीत में रूढ़िवादी सांस्कृतिक ढर्रे में दरार लाने भर की ताकत होती है। वह और नियर मानती हैं कि कार्यशिविर में एक गीत 'महिलाओं, फिर कभी नहीं' की रचना संगठित रूप से की गयी, विशेष रूप से इसमें उतनी क्षमता है।

क्लोडिया स्टर्न और गायिका सेसिलिया कोंचा लेबोर्ड ने स्वेच्छा से, मंत्रमुग्ध कर देने वाले राग और सादे व स्पष्ट शब्दों के साथ एक गीत 'महिलाओं, फिर कभी नहीं' की रचना की। गाने की पंक्तियों की रिकॉर्डिंग हो जाने पर, प्रदर्शन जुलूस के बाद कार्यशिविर के प्रतिभागी रिकॉर्डिंग स्टूडियो पर स्वरों को मिलाने के लिए फिर से एकत्रित हुए। देश भर में प्रचार-प्रसार के अभियान के साथ, अप्रैल में गाने के लोकार्पण को आयोजित किया गया।

नियर पुष्टि करती हैं, 'मुझे विश्वास है कि संगीत हमेशा ही सामाजिक बदलाव के लिए एक मार्गदर्शक ताकत रहेगा। जब गाना शुरू करने से पहले मैं थिएटर के पीछे खड़ी रहती हूँ, तब मैं खुद से यह मन्त्र कहती हूँ– "मैं यहाँ सुधार करने, शिक्षा देने, प्रेरित करने, चुनौती देने और मनोरंजन करने के लिए आयी हूँ"। एंडरसन कल्पना करती हैं, 'महिलाओं, फिर कभी नहीं' यह गीत जुलूसों में और समारोहों में गाया जाये, जहाँ यह सीखते हुए कि आदमी द्वारा महिला को मारा जाना या महिला द्वारा आदमी को मारा जाना कभी स्वीकार्य नहीं होगा, छोटे लड़के और लड़कियाँ अपने माता-पिता के साथ ये गीत गायें।

काश, एलिजाबेथ यूरीब के बच्चे इस क्रूरता की मजबूत पकड़ से बाहर आयें, जिसने उनके परिवार को अलग कर दिया। वे भी इस गीत को सुनें और यह महसूस करना शुरू करें कि उनकी जिन्दगियाँ फिर से बना पाना मुमकिन है जो हिंसा से मुक्त हो।

(मंथली रिव्यू से साभार, अनुवाद-रुचि मित्तल)

चिली में महिलाओं के प्रति हिंसा और क्रूरता के खिलाफ खुद महिलाओं द्वारा शुरू किया गया सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रतिरोध आन्दोलन जीवन-संघर्ष-सृजन के प्रति उम्मीद जगाता है।

पिछले साल नवम्बर म. एक कोयला खदान क्षेत्र की महिला एलिजाबेथ उरीब की निर्मम हत्या के बाद वहाँ के सांस्कृतिक समूह की महिलाओं ने सामूहिक प्रयास से कुछ गीत तैयार किये जिनको एक अभियान के रूप में जगह-जगह प्रस्तुत किया गया। उस आन्दोलन से जुड़ी मशहूर गायिका होली नियर के एक गीत का अनुवाद--

हम सीधेसादे लोग, आज गुस्से में हैं
और हम गा रहे हैं, अपनी जिन्दगी की खातिर गा रहे हैं
हम सब इन्साफ-पसन्द लोग हैं
और हम गा रहे हैं, अपनी जिन्दगी की खातिर गा रहे हैं
नौजवान और वृद्धाएँ सब एक साथ हैं
और हम गा रहे हैं, अपनी जिन्दगी की खातिर गा रहे हैं
हमारे देश म. हैं किसम किसम के लोग
और हम गा रहे हैं, अपनी जिन्दगी की खातिर गा रहे हैं
हम सीधेसादे, प्यारे-प्यारे लोग हैं
और हम गा रहे हैं, अपनी जिन्दगी की खातिर गा रहे हैं

समकालीन पूँजीवाद में फासीवाद की वापसी

--समीर अमीन

(यह लेख 2014 में लिखा गया था। इस लेख में हिलेरी क्लिंटन की जीत की तरफ इशारा किया गया था, लेकिन जीत ट्रम्प की हुई। चूँकि लेखक ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि अमरीका की दोनों ही पार्टियाँ दुनियाभर के फासीवादियों और चरम दक्षिणपंथियों के साथ खड़ी हैं, इसलिए ट्रम्प के जीतने से लेखक के विश्लेषण पर मूलतः कोई फर्क नहीं पड़ता।)

यह मात्र संयोग नहीं है कि इस लेख का शीर्षक समकालीन पूँजीवाद के संकट के दौर में राजनीतिक पटल पर फासीवाद की वापसी को दर्शाता है। फासीवाद, उस सर्व-सत्तावादी पुलिस व्यवस्था का पर्यायवाची नहीं है जो संसदीय चुनावी लोकतंत्र की अनिश्चितताओं को नकरता है। फासीवाद वास्तव में पूँजीवादी समाज के प्रबन्धकों द्वारा खास मौके की चुनौतियों का सामना करने के लिए अपनाया गया एक विशेष राजनीतिक समाधान है।

फासीवाद की एकता और विविधता

जिन राजनीतिक आन्दोलनों को सही मायने में फासीवादी कहा जा सकता था वे विशेष रूप से 1930 से 1945 के दौरान, यूरोप के कई देशों में सबसे बढ़-चढ़कर प्रयोग की गयी ताकत थे। इसमें इटली के बेनिटो मुसोलिनी, जर्मनी के एडॉल्फ हिटलर, स्पेन के फ्रांसिस्को फ्रेंको, पुर्तगाल के एंटोनियो डी ओलिवेरा सालाजार, फ्रांस के फिलिप पेटन, हंगरी के मिकलोस होर्दी, रोमानिया के इयोन एंटानेस्कू और क्रोएशिया के आन्ति पेवलक शामिल हैं। फासीवाद से पीड़ित विभिन्न समाजों की विविधता इस तरह थीं-- बड़े विकसित पूँजीवादी समाज और छोटे प्रभुत्व वाले पूँजीवादी समाज, दोनों में से कुछ प्रथम विश्वयुद्ध की विजय से सम्बन्ध रखते थे और कुछ अन्य पराजय की पैदाइश थे, हमें इन सभी को एक साथ घालमेल करने से बचना चाहिए। इस प्रकार मैं इस लेख में इन समाजों की संरचनाओं और संकटपूर्ण स्थितियों की विविधता के विभिन्न प्रभावों का विशेष रूप से उल्लेख करूँगा।

फिर भी, इन विविधताओं के अलावा, इन सभी फासीवादी शासन व्यवस्थाओं को दो चारित्रिक विशेषताओं में समानता थी।

1. खास परिस्थितियों में, इन शासन व्यवस्थाओं ने सरकार और समाज को ऐसे तरीके से संचालित किया जिससे कि पूँजीवाद के मूलभूत सिद्धान्तों पर सवाल ही न उठे, खासकर निजी पूँजीवादी सम्पत्ति पर, जिसमें आधुनिक एकाधिकारी पूँजीवाद भी शामिल है। यही वजह है कि मैं फासीवाद के इन विभिन्न रूपों को पूँजीवाद के प्रबन्धन के विशेष तरीके कहता हूँ। साथ ही यह ऐसा राजनीतिक रूप बिलकुल नहीं है, जो कि पूँजीवाद की मान्यता को चुनौती दे, भले ही फासीवादी भाषणों की लफ्फाजी में 'पूँजीवाद' या 'धनिकतंत्र' लम्बे समय से निन्दा के विषय थे। झूठी-लफ्फाजी जो इन भाषणों की असली प्रवृत्ति को छुपाती है, तब सामने आ जाती है जब भी कोई फासीवाद के इन विभिन्न रूपों द्वारा प्रस्तावित 'विकल्पों' की जाँच-पड़ताल करता है, जिसमें निजी पूँजीवादी सम्पत्ति जैसे मुख्य बिन्दु पर चुप्पी साध ली जाती है। एक बात और है कि पूँजीवादी समाज के राजनीतिक प्रबन्धकों के सामने आने वाली चुनौतियों का एकमात्र जवाब फासीवाद को चुनना नहीं है। हिंसक और गहरे संकट की विकट घड़ी में वर्चस्वशाली पूँजी के लिए फासीवादी समाधान सबसे अच्छा या कई बार एकमात्र समाधान होता है। इसलिए विश्लेषण करने के लिए इन संकटों पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए।

2. संकटपूर्ण स्थिति में पूँजीवादी समाज का इंतजाम करने के लिए फासीवादी विकल्प हमेशा, अपनी परिभाषा के अनुसार भी "लोकतन्त्र" को साफ तौर पर खारिज करता है। फासीवाद हमेशा उन सामान्य सिद्धान्तों को बदल देता है जिन पर आधुनिक लोकतंत्र के सिद्धान्त और व्यवहार आधारित हैं, जैसे-- विचारों की विविधता की स्वीकृति, बहुमत निर्धारित करने के लिए चुनाव प्रक्रियाओं का सहारा और अल्पसंख्यकों के अधिकारों की गारंटी आदि। इनकी जगह पर फासीवाद सामूहिक अनुशासन की जरूरत, सर्वोच्च नेता और उसके एजेन्टों के प्राधिकार के आगे समर्पण की उल्टी मान्यता को स्थापित करता है। मूल्यों का यह उलटाव हमेशा पिछड़े विचारों की वापसी के साथ होता है, ये पिछड़े विचारपूर्ण समर्पण की प्रक्रिया को स्पष्ट वैधता प्रदान करने में सक्षम होते हैं। फासीवाद राजधर्म के आगे समर्पण या "नस्ल" की कुछ काल्पनिक विशेषताओं या (नृजातीय) "राष्ट्र" की बनावट में ("मध्ययुगीन") अतीत की वापसी की तथाकथित आवश्यकता की घोषणा करता है और इन वैचारिक प्रवचनों के लबादे में फासीवादी शक्तियाँ छुपी रहती हैं।

आधुनिक यूरोपीय इतिहास में पाये जाने वाले फासीवाद के विभिन्न रूप, ऊपर बतायी गयी इन दो विशेषताओं को साझा करते हैं और नीचे दी गयी चार श्रेणियों में बँटे हुए हैं-

(1) *प्रमुख 'विकसित' पूँजीवादी शक्तियों का फासीवाद जो कि*

दुनिया में, या कम से कम क्षेत्रीय स्तर पर, पूँजीवादी व्यवस्था में प्रभावशाली शक्ति बनने का इच्छुक था।

नाजीवाद इसी प्रकार के फासीवाद का मॉडल है। जर्मनी 1870 के दशक की शुरुआत में ही एक प्रमुख औद्योगिक शक्ति बन गया और उस युग की प्रभुत्ववादी शक्तियों (ग्रेट ब्रिटेन और दूसरी फ्रांस) और उस देश का प्रतिद्वन्द्वी बन गया जो महाशक्ति (जैसे संयुक्त राज्य अमरीका) बनने की इच्छा रखता था। 1918 की हार के बाद, जर्मनी को अपनी आधिपत्यवादी आकांक्षाओं को हासिल करने में विफलताओं के नतीजों का सामना करना पड़ा। हिटलर ने बड़े ही स्पष्ट रूप से अपनी योजना तैयार की थी-- उसने यूरोप, साथ ही रूस और उसके आस-पास भी "जर्मनी" का, यानी उस एकाधिकारी पूँजी का प्रभुत्व स्थापित करने का मंसूबा बाँधा था जिसने नाजीवाद के उदय का समर्थन किया था। उसे अपने प्रमुख विरोधियों के साथ समझौता स्वीकार करके मामला निपटाने को तैयार था-- उसे यूरोप और रूस दिया जायेगा, जापान को चीन, ग्रेट ब्रिटेन को एशिया के बाकी हिस्से तथा अफ्रीका और संयुक्त राज्य अमरीका को लातिन अमरीका मिलेगा। हिटलर की गलती यही सोचने में थी कि ऐसा कोई समझौता सम्भव था-- ग्रेट ब्रिटेन और अमरीका ने इसे स्वीकार नहीं किया, जबकि जापान ने उल्टे, उसका समर्थन किया।

जापानी फासीवाद भी इसी श्रेणी में आता है। 1895 के बाद से, आधुनिक पूँजीवादी जापान ने पूर्व एशिया के सभी हिस्सों पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की इच्छा पाल रखी थी। यहाँ जो परिस्थिति तैयार की गयी, उसने उभरते हुए राष्ट्रीय पूँजीवाद को सम्राटशाही से प्रबन्धित करने के तरीके को 'नरमी' से खिसका दिया-- 'उदार' संस्थानों (चुनाव के जरिये) पर आधारित लेकिन वास्तव में सम्राट और आधुनिकीकरण की पैदाइश अभिजात वर्ग के पूरी तरह नियन्त्रण में-- फिर धीरे-धीरे सीधे सैन्य हाई कमान से संचालित क्रूरतपूर्ण ढाँचे की ओर। नाजी जर्मनी ने सम्राटवादी/फासीवादी जापान के साथ एक गठजोड़ बना लिया, जबकि ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका (1941 में पर्ल हार्बर की घटना के बाद) टोक्यो के साथ लड़ बैठे, चीन में प्रतिरोध के समय जापान को ऐसी ही चुनौती मिली जब-- कुओमिंतांग की कमियों को माओवादी कम्युनिस्टों के समर्थन ने पूरा कर दिया।

(2) *द्वितीय स्तर की पूँजीवादी शक्तियों का फासीवाद*

इटली का मुसोलिनी (फासीवाद शब्द और फासीवाद का आविष्कारक) एक प्रमुख उदाहरण है। मुसोलिनीवाद इतालवी दक्षिणपंथियों (पुराने अभिजात वर्ग, नये पूँजीपति वर्ग, मध्यमवर्ग) की 1920 के दशक के संकट और बढ़ते कम्युनिस्ट खतरे का जवाब था। लेकिन न तो इतालवी पूँजीवाद और न ही उसके राजनीतिक हथियार, मुसोलिनी के फासीवाद की ही यूरोप पर हावी होने की कोई महत्त्वाकांक्षा थी, दुनिया की तो बात ही छोड़ो। रोमन साम्राज्य (!) के पुनर्निर्माण के बारे में ड्यूस (मुसोलिनी) के सभी दावों के बावजूद, मुसोलिनी समझता था कि उसकी व्यवस्था की स्थिरता उसके गठबन्धन पर टिकी हुई थी-- या तो वह ग्रेट ब्रिटेन (भूमध्य का मालिक) या नाजी जर्मनी के मातहत रहे। द्वितीय विश्व युद्ध की पूर्व संध्या तक इन दो सम्भावित गठबन्धनों के बीच उसकी हिचकिचाहट बनी रही।

सालाजार और फ्रेंको का फासीवाद इसी किस्म का है। वे दोनों, गणतांत्रिक उदारवादी या समाजवादी गणतन्त्र के खतरों के जवाब में दक्षिणपंथ और कैथोलिक चर्च द्वारा स्थापित तानाशाह थे। इसके चलते दोनों, साम्राज्यवाद की प्रमुख शक्तियों द्वारा गैर लोकतांत्रिक हिंसा (साम्यवाद विरोध के बहाने) के लिए कभी भी दुत्कारे नहीं गये थे। वॉशिंगटन ने 1945 के बाद उन्हें फिर से स्थापित किया, (सालाजार नाटो के संस्थापक सदस्य थे और स्पेन ने अमरीकी सैन्य ठिकानों के लिए सहमति दी थी) उस यूरोपीय समाज ने भी वाशिंगटन का अनुकरण किया जो प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी व्यवस्था का स्वाभाविक रूप से गारंटी करता था। 1974 की कार्नेशन क्रान्ति (पुर्तगाल में एक सैन्य टुकड़ी के विद्रोह से शुरू हुआ आन्दोलन जो जल्दी ही जन प्रतिरोध में बदल गया और एस्तादो नोवो के शासन को उखाड़ फेंका और पुर्तगाल से अफ्रीकी उपनिवेशों को भी आजादी मिल गयी-अनुवादक) और 1980 में फ्रेंको की मौत के बाद, ये दो राजनीतिक व्यवस्थाएँ हमारे युग के नये कम तीव्रता वाले 'लोकतंत्र' के शिविर में शामिल हो गयीं।

(3) *पराजित शक्तियों का फासीवाद*

इनमें फ्रांस की विची सरकार, साथ ही साथ बेल्जियम के लेओन डेग्रेल और नाजियों द्वारा समर्थित "फ्लेमिश" की छद्म सरकार शामिल हैं। फ्रांस में, अभिजात वर्ग ने "जनप्रिय मोर्चे के बजाय हिटलर" को चुना (इस विषय पर एनी लैक्रोस-रिज की किताबें देखें)। इस तरह का फासीवाद जो हार से जुड़ा था और "जर्मन यूरोप" के आगे नतमस्तक था जिसे नाजियों की हार के बाद पृष्ठभूमि में चले जाना पड़ा। फ्रांस में, इसने उन प्रतिरोध परिषदों के लिए रास्ता दे दिया, जिन्होंने एक समय अन्य प्रतिरोध लड़ाकों (विशेष रूप से चार्ल्स द गॉल) के साथ कम्युनिस्टों को भी एकजुट कर दिया था। इसके आगे के विकास (यूरोपीय निर्माण की शुरुआत और फ्रांस की मार्शल योजना और नाटो से जुड़ना, यानी, अमरीकी वर्चस्व के आगे नतमस्तक होने की इच्छा) के लिए रूढ़िवादी दक्षिणपंथ और कम्युनिस्ट विरोधी, सामाजिक जनवादी दक्षिणपंथ को उस उग्र वामपंथ से स्थायी तौर पर नाता तोड़ना पड़ा जो फासीवाद विरोधी और पूँजीवाद विरोधी प्रतिरोध से पैदा हुआ था।

(4) *पूर्वी यूरोप के आश्रित समाजों में फासीवाद*

जब हम पूर्वी यूरोप (पोलैंड, बाल्टिक राज्यों, रोमानिया, हंगरी, यूगोस्लाविया, यूनान, और पोलिश युग के दौर का पश्चिमी यूक्रेन) की पूँजीवादी समाजों की जाँच करने के लिए आगे बढ़ते हैं तो हमें कई पायदान नीचे आना होता है। यहाँ पिछड़े और नतीजतन आश्रित पूँजीवाद के बारे में बात करना जरूरी है।

युद्धकाल के समय, इन देशों के प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग नाजी जर्मनी का समर्थन करते थे। फिर भी, हिटलर के प्रोजेक्ट के साथ उनकी राजनीतिक साँठ-गाँठ की अलग-अलग मामलों के आधार पर जाँच करना जरूरी है।

पोलैंड में, रूसी वर्चस्व (जार के समय का रूस) के प्रति दुश्मनी, जो कम्युनिस्ट सोवियत संघ के प्रति दुश्मनी बन गयी थी, उसे कैथोलिक पॉप की लोकप्रियता ने प्रोत्साहित किया। आम तौर पर, विची मॉडल के आधार पर इस देश को जर्मनी के अधीन कर दिया गया होता। लेकिन हिटलर ने इसे इस तरह से नहीं समझा था- पोलेंडवासी, रूसी, यूक्रेइनी और सर्ब वे लोग थे जिनकी किस्मत में यहूदियों, घुमंतुओं और कई अन्य लोगों की तरह नरसंहार ही लिखा था। इसलिए, उस समय बर्लिन के साथ जुड़े पोलिश फासीवाद के लिए कोई जगह नहीं थी।

इसके विपरीत, होर्दी के हंगरी और एंटोनेस्कु के रोमानिया को नाजी जर्मनी के मातहत सहयोगी मान लिया गया। इन दोनों देशों में ही इनमें से प्रत्येक के लिए खास सामाजिक संकट का नतीजा फासीवाद था, यानी हंगरी में बेला कुन काल के बाद "साम्यवाद" का डर तथा रोमानिया में रूथेनियावासियों और हंगरी वासियों के खिलाफ राष्ट्रीय अन्धराष्ट्रवादी लामबन्दी के बाद।

यूगोस्लाविया में, हिटलर के जर्मन राज्य (मुसोलिनी के इटली का अनुसरण करते हुए) ने एक "स्वतंत्र" क्रोएशिया का समर्थन किया, जिसे कैथोलिक चर्च के निर्णायक समर्थन के साथ ही सर्ब विरोधी उस्ताशी (युगोस्लाव का एक दक्षिणपंथी आतंकी संगठन जो युगोस्लाव की धरती से साम्यवाद और सर्ब को खत्म करने के लिए प्रतिबद्ध था।) के हाथों में सौंप दिया गया था, जबकि सर्बों को विनाश के लिए चिन्हित किया गया था।

रूसी क्रान्ति ने मजदूर वर्ग के संघर्षों की रौशनी में प्रतिक्रियावादी सम्पत्तिशाली वर्गों के खिलाफ स्थिति को स्पष्ट रूप से बदल दिया, यह बदलाव न केवल 1939 से पहले के सोवियत संघ के क्षेत्र में बल्कि हारने वाले क्षेत्रों जैसे बाल्टिक राज्य और पोलैंड में भी आया। 1921 की रीगा की सन्धि के बाद, पोलैंड ने बेलारूस (वोल्लीनिया) और यूक्रेन (दक्षिणी गैलिसिया, जो पहले ऑस्ट्रियाई क्राउनलैंड था और उत्तरी गैलिशिया, जो जार साम्राज्य का एक प्रान्त था) के पश्चिमी भागों पर कब्जा कर लिया था।

1917 के बाद इस पूरे क्षेत्र में, दो शिविरों का गठन हुआ (सच पूछिए तो 1905 की पहली रूसी क्रान्ति के बाद)-- पहले शिविर में थे समाजवादी समर्थक (जो बोल्शेविक समर्थक बने), ये किसानों के बड़े हिस्से में (जो अपने लाभ के लिए उग्र भूमि सुधार चाहते थे) और बुद्धजीवियों के घेरे में (विशेष रूप से यहूदियों में) लोकप्रिय थे; दूसरे शिविर में थे समाजवाद विरोधी (और फलस्वरूप फासीवादी प्रभाव के अन्तर्गत लोकतंत्र विरोधी सरकार पर मेहरबान) ये सभी भूस्वामी वर्गों से थे। 1939 में बाल्टिक राज्यों, बेलारूस और पश्चिमी यूक्रेन को फिर से सोवियत संघ में शामिल करने से इस विरोध को और बढ़ावा मिला।

पूर्वी यूरोप के इस हिस्से में "फासीवाद समर्थक" और "फासीवादी विरोधी" के बीच के संघर्षों का राजनीतिक मानचित्र धुंधला हो गया। एक तरफ, पोलिश अन्धराष्ट्रवाद (जिसे औपनिवेशिक ताकतों द्वारा हड़पे गये बेलारूसी और उक्रेनी क्षेत्रों को पोलिश रंग में रंगने की परियोजना के जरिये कायम रखा गया) और पीड़ितों के बीच संघर्ष के चलते, तो दूसरी तरफ उन यूक्रेनी "राष्ट्रवादियों" और हिटलर की परियोजना के बीच संघर्ष के चलते भी, जो पोलिश विरोधी और रूस विरोधी, (साम्यवाद विरोध की वजह से) दोनों थे, हिटलर की परियोजनाओं में किसी यूक्रेनी राज्य को एक मातहत सहयोगी के रूप में नहीं माना गया था, क्योंकि इसके लोगों को केवल नरसंहार के लिए चिन्हित किया गया था।

मैं यहाँ पाठक को ओल्हा ओस्ट्रिटचौक की आधिकारिक फ्रांसीसी रचना "अपने अतीत में यूक्रेनवासी" (*लेस यूक्रेनियन्स फेस ए ल्यों पासे*) पढ़ने की सलाह देता हूँ।[1] इस क्षेत्र के समकालीन इतिहास (आस्ट्रियाई गैलिसिया, पोलिश यूक्रेन, छोटा रूस जो सोवियत यूक्रेन बन गया था) का ओस्ट्रिटचौक द्वारा किया गया ठोस विश्लेषण अभी भी चल रहे संघर्षों और स्थानीय फासीवाद के कब्जे वाले इलाके के दाँव पर लगे मुद्दों के बारे में समझ विकसित करेगा।

पुराने और मौजूदा फासीवाद पर पश्चिमी दक्षिणपंथ का मेहरबान नजरिया--

दो विश्व युद्धों के बीच यूरोपीय संसदें दक्षिणपंथी फासीवाद और उससे भी आगे घिनौने नाजीवाद के प्रति हमेशा मेहरबान थीं। चर्चिल ने खुद "ब्रिटिश शान" के प्रति परम स्नेह के बावजूद, मुसोलिनी के लिए अपनी सहानुभूति कभी नहीं छिपायी। अमरीकी राष्ट्रपतियों और स्थापित डेमोक्रेटिक और रिपब्लिकन दलों ने हिटलर के जर्मन राज्य द्वारा पैदा किये गये खतरे, और उससे भी आगे साम्राज्यवादी/फासीवादी जापान को भी देर से महसूस किया। अमरीकी शासन तंत्र की सभी सनकी विशेषताओं के साथ, ट्रूमैन ने उस बात को खुलेआम स्वीकार किया, जिसे दूसरे अन्दर ही अन्दर सोच रहे थे। जर्मनी, सोवियत रूस और पराजित यूरोपीय देशों के नायकों को खत्म हो जाने दो और खुद ज्यादा से ज्यादा मुनाफा बटोरने के लिए यथासम्भव देर से हस्तक्षेप करो। यह उसूलों पर आधारित फासीवाद विरोधी अवस्थिति की अभिव्यक्ति नहीं है। 1945 में सालाजार और फ्रेंको को सत्तासीन करने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखायी गयी। इसके अलावा, यूरोपीय फासीवाद के प्रति मौन सहमति कैथोलिक चर्च की स्थायी नीति थी। इससे विश्वसनीयता पर कोई आँच नहीं आयेगी कि पायस बारहवें (कैथोलिक चर्च का अध्यक्ष-अनुवादक) को मुसोलिनी और हिटलर के साथ एक सहयोगी के रूप में चिन्हित किया जाये।

काफी समय बाद हिटलर की यहूदी विरोधी नफरत तब खुद ही जाग गयी, जब वह अपने जानलेवा पागलपन के चरम दौर में पहुँच गया था। हिटलर के भाषणों में "यहूदी-बोल्शेविकवाद" के लिए नफरत पर जोर दिया जाना कई राजनेताओं के लिए बहुत आम बात थी। यह नाजीवाद की हार के बाद ही हुआ कि सिद्धान्तों में यहूदी-विरोधी भावना की निन्दा करना आवश्यक बन गया। ''शोआह के शिकार'' की उपाधि से स्वघोषित उत्तराधिकारियों ने जब इजरायल में यहूदी नस्लवादी (जियनवादी) हुकूमत कायम कर ली, और वे फिलस्तीनी और अरब जनता के विरुद्ध अमरीकी और यूरोपीय साम्राज्यवादियों के सहयोगी बन गये तो उनका यह काम (यहूदी-विरोध की निन्दा करने का काम) आसान हो गया। हालाँकि, यूरोप की यहूदी विरोधी अत्याचारों से उनका कभी कोई लेना-देना नहीं रहा था।

जाहिर है, जर्मनी में नाजियों और इटली में मुसोलिनी का पतन हो जाने के बाद ही पश्चिमी देशों के दक्षिणपंथी राजनीतिज्ञ अपने को उन लोगों से अलग करके बताने लगे थे जो फासीवाद के खुले सहयोगी और संश्रयकारी रहे थे। फिर भी, फासीवादी आन्दोलन वास्तव में समाप्त होने के बजाय सिर्फ पीछे हटकर दृश्य से ओझल हो जाने के लिए मजबूर हुआ था।

पश्चिमी जर्मनी में ''सामंजस्य'' के नाम पर स्थानीय सरकार और उसके संरक्षकों (संयुक्त राज्य अमरीका और दूसरी बार ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस) ने युद्ध अपराधों और मानवता के विरुद्ध अपराध करने वाले लगभग सभी लोगों को उनके पदों पर ज्यों का त्यों बने रहने दिया। जब फ्रांस में अन्तोनी पिनाय के साथ विचीवादी लोग राजनीतिक परिदृश्य पर उभर कर आये, तो "साँठ-गाँठ के लिए अपमानजनक फाँसी" का प्रतिरोध करनेवालों के खिलाफ कानूनी कारवाईयाँ शुरू हो गयी थीं। इटली में फासीवाद शान्त हो गया, लेकिन अभी भी वह क्रिश्चियन लोकतन्त्र और कैथोलिक चर्च के विभिन्न पदों में मौजूद था। स्पेन में, 1980 में यूरोपीय समुदाय (जो बाद में यूरोपीय संघ हो गया) द्वारा कराये गये "सुलह-समझौते" के तहत फ्रांकोवादियों द्वारा किये गये अपराधों को किसी भी तरह याद दिलाने पर पूरी तरह से प्रतिबन्ध लगा दिया गया था।

अनुदार दक्षिणपंथियों द्वारा चलाये गये कम्युनिस्ट विरोधी अभियानों का पश्चिमी और केन्द्रीय यूरोप की समाजवादी और सामाजिक-जनवादी पार्टियों द्वारा किया गया समर्थन बाद के समय में फासीवाद की वापसी के लिए जिम्मेदार है। हालाँकि ''उदार'' वामपंथ की इन पार्टियों ने पहले अधिकारिक तौर पर दृढ़तापूर्वक फासीवाद का विरोध किया था। फिर भी यह सब भुला दिया गया। इन पार्टियों का सामाजिक-उदारवाद में रूपान्तरण के साथ, यूरोपीय निर्माण का उनके द्वारा बिना शर्त समर्थन करने से प्रतिक्रियावादी पूँजीवादी व्यवस्था के आने की जैसे व्यवस्थित गारंटी ही मिल गयी हो और इससे भी बढ़कर उन्होंने अमरीकी वर्चस्व के आगे बिना शर्त समर्पण किया (अन्य तरीकों में से एक नाटो के जरिये)। इससे पारम्परिक दक्षिणपंथियों और सामाजिक उदारवादियों के गठजोड़ से प्रतिक्रियावादी मोर्चा और मजबूत हो गया जो जरूरत पड़ने पर नये अति दक्षिणपंथियों के साथ तालमेल बैठा सकता था।

इसके बाद, 1990 की शुरुआत में पूर्वी यूरोपीय फासीवाद की तेजी के साथ पुनर्बहाली की गयी। सम्बन्धित देशों के सभी फासीवाद आन्दोलन हिटलरवाद के साथ अलग-अलग स्तर के वफादार मित्र या सहयोगी रह चुके थे। हिटलरवाद की परायज के नजदीक आने के समय इन सक्रिय नेताओं की भारी संख्या को पश्चिमी देशों में इसलिए भेज दिया गया कि उन्हें संयुक्त राज्य की फौजों के सामने आत्मसमर्पण कराया जा सके। इनमें से किसी को भी सोवियत संघ, यूगोस्लाविया या जनता की अन्य नयी जनवादी सरकारों के पास उनके अपराधों पर मुकदमा चलाने के लिए नहीं भेजा गया (यह मित्र शक्तियों के साथ हुए समझौतों का उल्लंघन था)। उनको अमरीका और कनाडा में शरण मिली हुई थी। इन देशों की सरकारों द्वारा अपने तीखे साम्यवाद-विरोध के चलते वे अधिकारियों के लाड़-प्यार के हकदार बन गये थे।

आस्ट्रिटचौक ने अपनी किताब '*लेस यूक्रेनियन्स फेस एल्यों पासे*' में अमरीकी नीतियों के उद्देश्यों (और इसके पीछे यूरोप के भी) और पूर्वी यूरोप (विशेष रूप से यूक्रेन) के स्थानीय फासीवादियों के बीच की मिली भगत को बेजोड़ तरीके से स्थापित करने के लिए सभी जरूरी चीजें उपलब्ध कराई हैं। उदाहरण के लिए प्रोफेसर देमेत्रो दोन्तसाव ने अपनी मृत्यु (1975) तक कनाडा में अपनी सभी रचनाओं को प्रकाशित कराया, जो न केवल उग्र रूप से कम्युनिस्ट विरोधी (उसके साथ "यहूदी-बोल्शेविकवाद" शब्दावली रूढ़ है) था, बल्कि लोकतन्त्र के मौलिक सिद्धान्तों का भी विरोधी था। पश्चिमी देशों की तथाकथित लोकतान्त्रिक राज्यों की सरकारों ने यूक्रैन में ''नारंगी क्रान्ति'' (यानी फासीवादी प्रतिक्रान्ति) का समर्थन ही नहीं किया, बल्कि उसे आर्थिक मदद दी और संगठित भी किया और यह सब आज भी जारी है। इसके पहले यूगोस्लाविया में कनाडा ने क्रोयेशियाई उस्ताशी लोगों के लिए मार्ग प्रशस्त किया था।

नियंत्रित मीडिया जिस धूर्तता के साथ इन फासिस्टों का समर्थन किये जाने को छिपाता है, वह भी ध्यान देने योग्य है। वह फासीवादी के लिए ''राष्ट्रवादी'' शब्द का इस्तेमाल करता है (वे खुले तौर पर यह स्वीकार नहीं कर सकते कि वे फासीवाद के समर्थक हैं)। यूक्रैन के प्रोफेसर दोन्तसोव अब एक फासीवादी नहीं हैं, बल्कि उक्रेइनी राष्ट्रवादी हैं। जैसे मारिन पेन भी अब फासीवादी नहीं रहे बल्कि राष्ट्रवादी हो गये हैं (उदाहरण के लिए जैसा *ले मोंडे* ने लिखा है)।

क्या ये सभी प्रामाणिक फासीवादी वास्तव में ''राष्ट्रवादी'' हैं, जैसा कि उनको कहा जाता है? यह सन्देहास्पद है। राष्ट्रवादी होने का यह तमगा उनके लिए तब सही होता जब वे वास्तव में आज की दुनिया की प्रभुत्वकारी शक्तियों- यानी संयुक्त राज्य अमरीका और यूरोप की इजारेदारियों पर सवाल खड़ा करते। ये

तथाकथित ''राष्ट्रवादी'' संयुक्त राज्य अमरीका, यूरोपीय संघ और नाटो के दोस्त हैं। उनका ''राष्ट्रवाद'' मुख्यतः पड़ोसी निर्दोष लोगों के विरुद्ध अन्धराष्ट्रवादी नफरत से भरा होता है, जबकि ये निर्दोष पड़ोसी कभी भी उनकी दुर्दशा के लिए जिम्मेदार नहीं रहे हैं-- यूक्रैन में रूसी अवाम (न कि जार); क्रोयेशिया में सर्ब लोग इनके हमले का निशाना हैं; फ्रांस, आस्ट्रिया, स्विटजरलैंड, यूनान और दूसरी जगहों के नये अति दक्षिणपंथियों के हमलों का निशाना ''अप्रवासी लोग'' हैं।

यूरोप में संसदीय दक्षिणपंथियों और सामाजिक-उदारवादियों के बीच संश्रय के चलते आज, एक तरफ अमरीका (रिपब्लिक और डेमोक्रेट) और यूरोप संसदीय दक्षिणपंथी और सामाजिक उदारवादी की बड़ी पूँजीवादी राजनीतिक ताकतों के बीच और दूसरी तरफ, पूर्वी यूरोप के फासीवादियों के बीच साँठ-गाँठ से उपजे खतरे को कम करके नहीं आँकना चाहिए। हिलेरी क्लिंटन ने इस साँठ-गाँठ की अगुआ प्रवक्ता के तौर पर खुद को स्थापित किया है और युद्धोन्माद को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। यहाँ तक कि जार्ज बुश की तुलना में और भी ज्यादा जोर से यदि सम्भव हो वह आक्रामकता के साथ रूस के खिलाफ निरोधक युद्ध (प्रिवेन्टिव वार) की बात करती हैं (जो शीत युद्ध की महज पुनरावृत्ति नहीं है) और वे इससे भी बढ़कर अन्य स्थानों पर यूक्रेन, जार्जिया और मॉल्दोवा और चीन के खिलाफ और एशिया, अफ्रीका और लातिन अमरीका में विद्रोही लोगों के खिलाफ खुले हस्तक्षेप की जोर-शोर से वकालत करती हैं। दुर्भाग्य से, अमरीका के तेज पराभव के समय हिलेरी क्लिंटन को पर्याप्त समर्थन मिल सकता है और वे ''संयुक्त राज्य अमरीका की पहली महिला राष्ट्रपति'' हो सकती है। लेकिन इस झूठे नारीवाद के पीछे छिपी हकीकत को नहीं भूलना चाहिए।

निस्सन्देह, आज जो फासीवादी खतरा दिखाई दे रहा है वह फिलहाल अमरीका और पुराने "लबादे" वाली पश्चिमी यूरोप की ''लोकतान्त्रिक'' प्रणाली के लिए कोई खतरा नहीं है। ठेठ संसदीय दक्षिणपंथ और सामाजिक उदारवादियों के बीच की नयी मिलीभगत ने प्रभुत्वशाली पूँजी के लिए अब गैरजरूरी बना दिया है कि वह ऐतिहासिक फासीवादी आन्दोलनों के शुरुआती किस्म के अति दक्षिणपंथ की सेवाओं का सहारा लें। लेकिन तब हमें पिछले दशक में अति दक्षिणपंथ की चुनावी सफलताओं से क्या निष्कर्ष निकालना चाहिए? यूरोपीय लोग भी आमफहम एकाधिकारी पूँजीवाद के प्रसार के साफ तौर पर शिकार हैं।[2] तब हम यह कह सकते हैं कि जब वे दक्षिणपंथ और तथाकथित समाजवादी वामपंथ के बीच साँठ-गाँठ को देखते हैं तब वे या तो चुनाव में हिस्सा नहीं लेते हैं या अति दक्षिणपंथ को मतदान करते हैं। इस मामले में सम्भावनाशील क्रान्तिकारी वामपंथ की भूमिका बहुत बड़ी हो जाती है। यदि इस वामपंथ में मौजूदा पूँजीवाद से बाहर जाकर वास्तविक तौर पर आगे बढ़ने के लिए प्रस्ताव करने का साहस हो तो यह उस विश्वसनीयता को हासिल कर पायेंगे जो कहीं पीछे छूट गयी थी। इस विश्वसनीयता का आज अभाव है। एक साहसी क्रान्तिकारी वामपंथ टुकड़े-टुकड़े में हो रहे मौजूदा विरोध आन्दोलनों और रक्षात्मक संघर्षों में गायब मेल-मिलाप और एकजुटता हासिल करने के लिए आवश्यक है। तब कहीं जाकर ''आन्दोलन'' सामाजिक शक्ति संतुलन को मेहनतकश वर्गों के पक्ष में मोड़ सकता है और प्रगतिशील उन्नतियों को सम्भव बना सकता है। दक्षिण अमरीका में जनप्रिय आन्दोलनों की सफलताएँ इसका प्रमाण हैं।

मौजूदा परिस्थिति में, अति दक्षिणपंथ की चुनावी सफलताएँ खुद मौजूदा पूँजीवाद की देन हैं। ये सफलताएँ ''अति दक्षिणपंथी लोक लुभावकों और अति वामपंथ के लोगों को'' उसी खुशामद के साथ मीडिया में एक साथ पेश करते हैं, वे इस तथ्य को नजरंदाज करते हैं कि अति दक्षिणपंथ पूँजीवाद समर्थक है (जैसा कि अति *दक्षिणपंथ* शब्द से पता चलता है) और पूँजी का सम्भावित सहयोगी है, जबकि अति वामपंथी लोग पूँजी की सत्ता व्यवस्था के महज सम्भावित खतरनाक विरोधी हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा ही संयोग देखा जा सकता है, हालाँकि यहाँ के अति दक्षिणपंथ को कभी भी फासीवादी नहीं कहा गया। कल का मैकार्थीवाद, आज के टी पार्टी के धर्मांध और युद्धोन्मादी (उदाहरण के लिए हिलेरी क्लिंटन) खुले तौर पर ''आजादी'' के पक्ष में बोलते हैं क्योंकि वे इसे अच्छी तरह समझते हैं कि यह ''आजादी'' ''सरकार'' के विरुद्ध एकाधिकारी पूँजी के मालिकों और प्रबन्धकों के लिए ही है। यह "आजादी" व्यवस्था के शिकार लोगों की माँगों को मानने के मामले में संदिग्ध है।

फासीवादी आन्दोलनों के बारे में एक अन्तिम अवलोकन-- फासीवादी आन्दोलनों की आखिरी पहचान यह है कि वे यह जानने में असमर्थ प्रतीत होते हैं कि कब और कैसे अपनी माँगों को नियंत्रित करें। नेता की व्यक्तिपूजा और अन्धे भक्त, उन्माद पैदा करने वाली प्रयोगशाला में तैयार किये गये छद्म जातीय या छद्म धार्मिक या पौराणिक रचना का सर्वोच्च गुणगान जो कट्टरता को व्यक्त करते हैं तथा हिंसात्मक कार्यवाहियों के लिए लड़ाकों की भर्ती फासीवाद को ऐसी शक्ति बना देती है जिस पर नियंत्रण रखना मुश्किल होता है। फासीवादियों द्वारा की जाने वाली सामाजिक हितों की सेवाओं के दृष्टिकोणों में अतार्किक भटकावों से अलग हटकर भी गलतियाँ अवश्यम्भावी तौर पर होती हैं। हिटलर सही मायने में एक मानसिक रूप से बीमार व्यक्ति था, फिर भी उसने उन बड़े पूँजीपतियों को जिन्होंने उसे सत्ता में बैठाया था, पागलपन की हद तक अपना अनुसरण करने के लिए बाध्य कर दिया और इसमें उसने आबादी के बड़े हिस्से का समर्थन भी प्राप्त कर लिया। हालाँकि यह केवल एक चरम मामला था। मुसोलिनी, फ्रांको, सालाजार और पेटन मानसिक तौर पर बीमार नहीं थे, फिर भी उनके सहयोगियों ओर पिछलग्गुओं की भारी तादाद ने आपराधिक कारगुजारियों को अंजाम देने में कोई हिचकिचाहट नहीं दिखायी।

मौजूदा दक्षिणी गोलार्द्ध में फासीवाद

उन्नीसवीं सदी में लातिन अमरीका का वैश्विक पूँजीवाद के साथ एकीकरण किसानों के शोषण पर आधारित था, जिसने किसानों को ''चपरासियों'' की हैसियत में पहुँचा दिया था और उन्हें बड़े भू-स्वामियों के क्रूर व्यवहारों के अधीन कर दिया था। मैक्सिको के पोरफिरो दियाज की व्यवस्था इसका एक अच्छा उदाहरण है। बीसवीं सदी में इसके एकीकरण ने ''गरीबी का आधुनिकीकरण'' कर दिया। एशिया और अफ्रीका के मुकाबले लातिन अमरीका में तेजी से ग्रामीण आबादी का विस्थापन बहुत ज्यादा था और जल्दी शुरू हो गया था। साथ ही, इसने शहरी झुग्गी-झोपड़ियों में नये तरह की गरीबी को पैदा किया जिसने ग्रामीण इलाकों की गरीबी के पुराने रूपों की जगह ले ली। इसी के साथ ही तानाशाहियाँ स्थापित करके, चुनावी जनतंत्र समाप्त करके, पार्टियों और ट्रेड यूनियनों पर प्रतिबन्ध लगाकर और अपनी खुफिया तकनीक के जरिये ''आधुनिक'' खुफिया सेवाओं को गिरफ्तारी और यातना देने सम्बन्धी सारे अधिकार देकर इसने जन समुदाय के ऊपर राजनीतिक नियंत्रण के रूपों का ''आधुनिकीकरण'' किया। जाहिर है कि राजनीतिक प्रबन्धन के ये रूप फासीवाद के उन रूपों जैसे ही दिखाई पड़ते हैं जो पूर्वी यूरोप के आश्रित पूँजीवादी देशों में हैं। बीसवीं सदी की लातिन अमरीकी तानाशाहियाँ स्थानीय प्रतिक्रियावादी गुट की सेवा करती थीं। यह प्रतिक्रियावादी गुट बड़े भू-स्वामियों, दलाल पूँजीपतियों और कभी-कभी उन मध्यम वर्गों को मिलकर बना था जिसे इस तरह के जर्जर विकास से फायदा हुआ था। लेकिन सबसे बड़ी बात है कि इन तानाशाहियों ने प्रभुत्वशाली विदेशी पूँजी, खास तौर पर अमरीकी पूँजी की सेवा की जिसने इसके बदले इन तानाशाहियों का तब तक समर्थन किया जब तक हाल में शुरू हुए लोकप्रिय आन्दोलनों ने उन्हें पलट नहीं दिया। इन आन्दोलनों और सामाजिक व जनवादी विकास की ताकत ने यह किया कि उसने थोड़े समय के लिए ही सही, अर्द्ध फासीवादी तानाशाहियों की वापसी को रोक दिया। लेकिन भविष्य अनिश्चित है- मेहनतकश वर्गों के आन्दोलन और स्थानीय व वैश्विक पूँजीवाद के बीच संघर्ष शुरू ही हुआ है। सभी किस्म के फासीवाद की तरह ही लातिन अमरीका की तानाशाहियाँ भी गलतियों से नहीं बच सकीं और उनमें से कुछ तो उनके लिए घातक थीं। उदाहरण के लिए मैं ल्यूनार्डो फोतुनातो गलतेयरी के बारे में सोच रहा हूँ, जो अपने फायदे के लिए अर्जेंटीनी राष्ट्रीय भावनाओं को भुनाने के मकसद से मलविनास द्वीप पर युद्ध करने गया था।

एशिया और अफ्रीका में 1980 के दशक के शुरू हुआ, सार्वत्रिक एकाधिकारी पूँजीवाद के विस्तार की चारित्रिक विशेषता के रूप में लम्पट विकास ने बांदुंग काल (1955-1980) के लोकपरक राष्ट्रीय व्यवस्था को विस्थापित करके उसकी जगह ले ली।[3] इस लम्पट विकास ने गरीबी के आधुनिकीरण और दमनकारी हिंसा के भी आधुनिकीकरण के नये रूपों को जन्म दिया। अरब जगत में नासिरवादी और बाथवादी व्यवस्थाओं के बाद के दौर की ज्यादतियाँ इसके अच्छे उदाहरण हैं। हमें राष्ट्रीय लोकप्रिय बांदुंग काल और उसके बाद की हुकूमतों को एक जैसा समझने से बचना चाहिए क्योंकि ये दोनों ही "गैर-लोकतान्त्रिक" शासन थे। बांदुंग के बाद की हुकूमतें वैश्वीकृत नवउदारवाद के छकड़े पर सवार हो गयीं। जबकि बांदुंग काल की हुकूमतें, अपने निरंकुश राजनीतिक व्यवहारों के बावजूद एक हद तक जनप्रिय स्वीकृति हासिल किये हुए थीं क्योंकि उनकी कुछ वास्तविक उपलब्धियाँ थीं जिनसे मजदूरों के बड़े हिस्से को फायदा पहुँचा था और वे साम्राज्यवाद-विरोधी थे। लेकिन बाद की तानाशाहियों ने जैसे ही वैश्वीकृत नवउदारवादी मॉडल का साथ दिया और लम्पट विकास शुरू किया। वैसे ही उनकी यह स्वीकार्यता समाप्त हो गयी। इसने विकास का जो मॉडल अपनाया उसने नवउदारवादी, जनविरोधी और राष्ट्र-विरोधी परियोजनाओं की सेवा में अधिकाधिक सैन्य हिंसा का रास्ता अपनाया। 2011 में शुरू हुए हालिया जनप्रिय विद्रोहों के उभार ने तानाशाहियों पर सवाल उठाये हैं। लेकिन सिर्फ तानाशाहियों पर ही सवाल खड़े किये गये। किसी विकल्प सिर्फ तभी स्थिरता के रास्ते तलाश कर पायेगा जब ये विद्रोह तीन लक्ष्यों को प्राप्त करने में सफल होंगे जिसके इर्द-गिर्द विद्रोह को लामबन्द किया जाये। ये लक्ष्य हैं- समाज और राजनीति का निरन्तर जनवादीकरण, प्रगतिशील सामाजिक उन्नति और राष्ट्रीय सम्प्रभुता की रक्षा।

लेकिन हम इन्हें हासिल करने से बहुत दूर हैं। इसलिए छोटी अवधि के लिए कई तरह के विकल्प सम्भव हैं। क्या बांदुंग काल के राष्ट्रीय लोकप्रिय मॉडल, चाहे जनतंत्र का संकेत ही हो, की ओर वापसी सम्भव है? या जनतांत्रिक, लोकप्रिय और राष्ट्रीय मोर्चे का दृढ़ता से निर्माण सम्भव है? या इस मामले में पीछे मुड़कर देखने और भ्रमित होने वाले, राजनीति और समाज के ''इस्लामीकरण'' में गोते लगाने का रूप ले ले, यह भी सम्भव है?

इन चुनौतियों के तीन सम्भव जवाबों को लेकर भ्रामक टकराहट को देखते हुए, पश्चिमी ताकतों (अमरीका और उसके छुटभैय्ये यूरोपीय सहयोगी) ने अपना रास्ता चुन लिया है। उन्होंने मुस्लिम ब्रदरहुड या राजनीतिक इस्लाम के अन्य ''सलाफीवादी'' संगठनों को प्राथमिकता में समर्थन दे दिया है। इसका सीधा और स्पष्ट कारण है- इन प्रतिक्रियावादी राजनीतिक शक्तियों ने वैश्वीकृत नवउदारवाद (और इस प्रकार सामाजिक न्याय और राष्ट्रीय स्वतंत्रता की किसी भी सम्भावना का परित्याग) के अन्तर्गत अपनी सत्ता को संचालित करना स्वीकार कर लिया है। यही तो साम्राज्यवादी ताकतों का एकमात्र उद्देश्य है।

परिणामस्वरूप, राजनीतिक इस्लाम का कार्यक्रम पराश्रित समाजों में पाये जाने वाले फासीवाद जैसा है। वास्तव में यह सभी तरह के फासीवाद की दो बुनियादी विशेषताओं को अपनाता है। इसमें पहली विशेषता है- पूँजीवादी व्यवस्था के बुनियादी पहलुओं के खिलाफ किसी तरह की चुनौती का गायब होना और इस सन्दर्भ में ये इस स्तर पर वैश्वीकृत नवउदारवादी पूँजीवाद से जुड़े लम्पट

विकास के मॉडल को चुनौती नहीं देगा। और दूसरी है- राजनीतिक प्रबन्धन, राज्य द्वारा सैन्य शासन और जनतंत्र विरोधी रूपों का चुनाव (जैसे पार्टियों और संगठनों पर पाबन्दी, और नैतिकता का जबरन इस्लामीकरण)।

साम्राज्यवादी शक्तियों का लोकतंत्र-विरोधी विकल्प, सवालों के घेरे में आयी इस्लामी हुकूमतों की सम्भावित ज्यादतियों को स्वीकार कर लेता है। यह लोकतान्त्रिक समर्थन झूठी लफ्फाजी खड़ी करती है जैसाकि आज प्रचार की आँधी चलाकर किया जा रहा है। दूसरे किस्म के फासीवाद की तरह और इन्हीं कारणों से ये ज्यादतियाँ उनकी वैचारिक पद्धति के खून में ही घुल गयी है। वे ये हैं- नेताओं के सामने बिना सवाल किये नतमस्तक होना, राज्य धर्म को मानने के लिए उन्मादी गुणगान और दंडवत करवाने के लिए लठैतों का गिरोह पालना। वास्तव में इसको पहले देखा भी जा सकता है, ''इस्लामवादी'' कार्यक्रम ने केवल एक गृहयुद्ध (सिया-सुन्नी और दूसरों के बीच) के मामले में ही तरक्की की है और इसका परिणाम स्थायी अराजकता के सिवाय और कुछ नहीं हुआ। तब, इस किस्म की इस्लामवादी सत्ता की गारंटी यही है कि ऐसा समाज विश्व परिदृश्य पर अपने आप को स्थापित करने में पूर्णतया असमर्थ बना रहेगा। यह स्पष्ट है कि पराभव की ओर बढ़ते अमरीका ने "दूसरे सबसे अच्छे" के पक्ष में उस बेहतरी की उम्मीद को छोड़ दिया है-- जिसमें विनम्र, स्थिर और स्थानीय सरकार आती है।

अरब-मुस्लिम दुनिया के बाहर भी इसी तरह के विकास और विकल्प पाये जाते हैं। जैसे हिन्दू भारत में भी ऐसा विकासक्रम हुआ है। भारत में हाल के चुनावों में विजयी भारतीय जनता पार्टी एक प्रतिक्रियावादी हिन्दू धार्मिक पार्टी है जो अपनी सरकार के वैश्वीकृत नवउदारवादी मॉडल में शामिल होने को स्वीकार करती है। इस बात की गारंटी है कि भारत इस सरकार के तहत उभरती हुई शक्ति बनने की अपनी परियोजनाओं से एक कदम पीछे जायेगा। इसे फासीवाद का ही एक रूप कहना कोई अतिशियोक्ति नहीं होगी।

निष्कर्ष के रूप में-- पश्चिम, पूर्व और दक्षिण में फासीवाद की वापसी हो गयी है और यह वापसी स्वाभाविक तौर पर सामान्यीकृत, वित्तीय और वैश्विक एकाधिकारी पूँजीवाद के ढांचागत संकट के विस्तार से जुड़ी हुई है। इस संकटग्रस्त व्यवस्था के वर्चस्वकारी केन्द्रों द्वारा फासीवादी आन्दोलनों की सेवाओं का वास्तविक या सम्भावित इस्तेमाल जनपक्षधर ताकतों से अत्यधिक सतर्कता की माँग करता है। यह संकट और भी ज्यादा गहराने के लिए अभिशप्त है, जिसके परिणामस्वरूप फासीवादी समाधानों की शरण लेने का खतरा वास्तविक खतरा बन जायेगा। हिलेरी क्लिंटन द्वारा संयुक्त राज्य अमरीका के युद्धोन्माद का समर्थन तात्कालिक भविष्य के लिए अच्छा संकेत नहीं है।

टिप्पणियाँ

1. ओल्हा ओसट्रीटचौक यूक्रेनियन्स फेस्ड विद देयर पास्ट,(ब्रुसेल्सः पी.आई.ई. लैंग, 2013)
2. अधिक जानकारी के लिये समीर अमीन का ही मंथली रिव्यू, 2013 का *"द इम्प्लोजन ऑफ कन्टेम्परेरी कैपिटलिज्म"* पढ़ें।
3. सामान्यीकृत एकाधिकारी पूँजीवाद की विस्तृत जानकारी के लिए उपरोक्त देखें।

(मंथली रिव्यू से साभार, अनुवाद-- राजेश कुमार)

हस्तशिल्प पर जीएसटी के खिलाफ नाटककार प्रसन्ना की भूख हड़ताल

देश के जानेमाने नाटककार प्रसन्ना हस्तशिल्पियों और बुनकरों के हक-हकूक के लिए 14 अक्टूबर से बंगलुरु से भूख हड़ताल पर बैठ गये। वे खादी ग्रामोद्योग तथा हस्तशिल्प पर जीएसटी की मार का विरोध कर रहे हैं, क्योंकि इससे ग्रामीण गरीब लोगों का जीवन संकट में पड़ गया है।

एक बयान में प्रसन्ना ने कहा है कि "कृषि पर भले ही टैक्स नहीं है, लेकिन ग्रामीण वस्तुओं, जैसे कि पापड़ या घर में बनाये जानेवाले चप्पल या बर्तन या हथकरघा, जो किसानी अर्थव्यवस्था के पूरक हैं और खेती में घाटा होने पर उसकी भरपाई करने में मदद करते हैं, उनके ऊपर अब जीएसटी के तहत सरकार टैक्स लगा रही है, जिसका सीधा असर गरीब लोगों पर पड़ेगा।"

भारतीय रंगकर्म के शीर्षस्थ व्यक्तित्व, सहजता, सरलता, मृदुता, सौम्यता, दृढ़ता, जीवटता, जनपक्षधरता और प्रतिबद्धता के जीवित और जीवन्त उदहारण! राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षण लेने के बाद भी उन्होंने प्रकृति, जीवन और ग्रामीण समाज से एकमएक होने का मार्ग चुना। उन्होंने सत्ता-संस्थानों की कभी परिक्रमा नहीं की। प्रतिष्ठा और पुरस्कारों चमक-दमक से वे हमेशा दूर रहे और रंगमंच को उस गाँव-समाज के अन्दर लेकर गये, जहाँ उसकी वास्तव में जरूरत थी। ग्राम्सी के आवयविक बुद्धिजीवी ऐसे ही होते हैं। उनकी जमीनी कार्रवाइयों और न्यायपूर्ण संघर्ष को अभिवादन!

उत्तर कोरिया की असली ताकत कहाँ है?

--शान्तनु

(मिसाइल और परमाणु कार्यक्रम विकसित करना उत्तर कोरिया के नेताओं की सनक नहीं है जैसाकि आमतौर पर प्रचारित किया जाता है। ठोस वादों के बदले इन्हें खत्म करने की उत्तर कोरिया ने इच्छा भी जाहिर की थी, लेकिन हर बार उसे छला गया। किसी झाँसे में आकर वह अपना कार्यक्रम खत्म नहीं कर सकता, क्योंकि उसे इराक के सद्दाम और लीबिया के गद्दाफी का हश्र पता है। सद्दाम और गद्दाफी ने अमरीकी झाँसे में आकर अपने परमाणु कार्यक्रमों को त्याग दिया था।

कोरिया के लोग युद्ध नहीं चाहते हैं। युद्ध का फिलहाल कोई कारण भी नहीं है। लेकिन अमरीका का साम्राज्यवादी मंसूबा शान्ति बहाल नहीं होने देगा।)

कोरिया-जापान के आसमान पर परमाणु युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं। अमरीका उत्तर कोरिया के ऊपर मिसाइल और परमाणु परीक्षण रोकने के लिए दबाव बना रहा है, जबकि उत्तर कोरिया अमरीका द्वारा उस पर लादे गये आर्थिक प्रतिबन्ध खत्म करने और क्षेत्र में हमले के इरादे से किये जा रहे युद्धाभ्यास को बन्द करने की माँग कर रहा है। दोनों अडिग हैं और दोनों अड़े हुए हैं। अगर युद्ध होता है तो यह सामान्य युद्ध नहीं होगा, क्योंकि दोनों पक्ष परमाणु हथियारों से लैस हैं। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि यह तनातनी तीसरे विश्वयुद्ध की शुरुआत भी कर सकती है।

उत्तर कोरिया के आगे अमरीका एक बार फिर लाचार नजर आ रहा है। इससे पहले, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद उसने इसे अपनी मुट्ठी में करना चाहा था, लेकिन 37,000 सैनिकों और अरबों डॉलर गँवाने के बाद भी वह ऐसा नहीं कर पाया था। इधर, अपने बेखौफ व्यवहार से उत्तर कोरिया अमरीका को यह बात बहुत तीखे ढंग से याद दिला रहा है कि उसके उत्कृष्ट महाशक्ति होने के दिन लद चुके हैं, राष्ट्रपति ट्रम्प उत्तर कोरिया को परमाणु और मिसाइल परीक्षण न रोकने पर बमों की अग्निवर्षा कर पूरी तरह तबाह करने की लगातार धमकी दे रहा है, जबकि उत्तर कोरिया का सर्वोच्च नेता किम जोंग-अन ने दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान हिरोशिमा पर गिराये गये अमरीकी परमाणु बम से 16 गुणा ताकतवर बम और साथ-साथ अमरीका तक मार कर सकने वाली आईसीबीएम मिसाइलों का परीक्षण करते हुए उन धमकियों का मखौल उड़ा रहा है।

अमरीका की आर्थिक-सामरिक समृद्धि के आगे उत्तर कोरिया को भूखा-नंगा देश ही कहा जा सकता है। एक ऐसा देश अगर अमरीका को ईंट का जवाब पत्थर से दे रहा है तो यकीनन उसकी कोई ऐसी ताकत होगी जो इराक के सद्दाम या लीबिया के गद्दाफी के पास नहीं थी और इसीलिए अमरीका उत्तर कोरिया का अब तक बाल भी बाँका नहीं कर पाया। आम तौर पर उत्तर कोरिया की ताकत को उसकी मिसाइलों और परमाणु बमों में देखा जाता है जबकि उत्तर कोरिया ने पहला मिसाइल परीक्षण 1970 में किया और पहला भूमिगत परमाणु विस्फोट 2006 में। सच्चाई यह है कि अमरीका से लोहा लेने का काम वह 1945 से, यानी दूसरे विश्वयुद्ध के ठीक बाद से ही करता आ रहा है। इस देश को पराजित करने के लिए अमरीका ने यहाँ जिस बड़े पैमाने पर बेरहम कत्लेआम को अंजाम दिया और यहाँ के सारे शहरों को बम गिराकर शाब्दिक अर्थ में मिट्टी में मिला दिया था, उसके बारे में आज दुनिया के कम ही लोगों को ही पता है। इसके बावजूद अमरीका अगर आज तक उसकी आजादी और सम्प्रभुता छीन नहीं पाया है तो तय है कि इस देश की ताकत सिर्फ उसके हथियारों में ही नहीं है।

उत्तर कोरिया और अमरीका के झगड़े की जड़ में क्या है- इसकी असलियत को आसानी से जाना नहीं जा सकता। क्योंकि एक तो सूचना की दुनिया में अमरीका और यूरोप का वर्चस्व है और दूसरा उत्तर कोरिया खुद को समाजवादी देश कहता है और उसने पूँजीवादी दुनिया से अपने-आप को पूरी तरह काट रखा है जिसके कारण पूँजीवादी विचारों की चकाचौंध में अन्धे लोग उससे नफरत करते हैं। अमरीकी सूचनाओं और विचारों के कचरे से शिक्षित लोगों के मन में यह सहज सवाल ही पैदा नहीं होता कि अपने देश से 10 हजार किमी दूर कोरियाई क्षेत्र में अमरीका आज भी क्यों डटा पड़ा है और एक गरीब देश को परमाणु हथियार विकसित करने के महँगे रास्ते पर आखिर क्यों चलना पड़ रहा है?

दूसरा विश्वयुद्ध खत्म हुए 72 साल बीत चुके हैं। कभी दुश्मन रहे चीन-जापान-दक्षिण कोरिया के रिश्ते भी अब बदल चुके हैं। 2007 में चीन-जापान का व्यापार 267 अरब डॉलर पहुँच चुका था

और 2009 में चीन सबसे ज्यादा जापानी निर्यात हासिल करने वाला देश बन गया था। इसके अलावा, 2004 में चीन अमरीका को पछाड़ कर दक्षिण कोरिया के सबसे बड़े व्यापारिक साझेदार की हैसियत हासिल कर चुका था। कुलमिलाकर उस क्षेत्र की जमीन पर फिलहाल युद्ध की कोई सम्भावना नहीं दिखती है। फिर युद्ध की यह धमक क्यों? अमरीकी बेचैनी और उत्तर कोरिया के साहस की गुत्थी इस क्षेत्र के हाल के इतिहास में छुपी है और इतिहास के पन्ने ही वर्तमान संकट को समझने और उससे निकलने का रास्ता सुझा सकते हैं।

जापान और अमरीका के जबड़ों से छीनी आजादी

उत्तर कोरिया के इतिहास को बड़ी चालाकी के साथ नजरंदाज किया जाता है। बहुत कम लोगों को पता होगा कि यहाँ के लोगों ने कितनी बहादुराना लड़ाई और अकल्पनीय कुर्बानियों के बल पर अपनी आजादी हासिल की थी।

1910 में जब कोरिया एक सम्प्रभु देश हुआ करता था जापान ने इसे अपने कब्जे में ले लिया था। तब कोरिया का उत्तर में एक छोटा हिस्सा तत्कालीन सोवियत संघ, वर्तमान में रूस, से और बड़ा हिस्सा चीन से सटता था और यालू नदी सीमा रेखा का काम करती थी। 1917 में रूस में क्रान्ति सफल हुई और इसके प्रभाव में 1925 के बाद चीन में भी जमींदार-सामन्तों के खिलाफ क्रान्तिकारी लड़ाई शुरू हो गयी। उधर, जापानी उपनिवेशवाद का विरोध करने वाले कोरियाई परिवार बड़ी संख्या में चीन और सोवियत संघ जा बसे थे। इनमें से उत्तर कोरिया के वर्तमान नेता किम जोंग-अन के दादा किम इल-सुंग का परिवार भी था जो चीन में जाकर बसा था। 1932 में अपने साथियों के साथ मिलकर किम इल-सुंग ने कोरियाई जन सेना का गठन किया और देश की मुक्ति की लड़ाई शुरू की। उन्होंने जापानियों के खिलाफ 13 वर्षों की अकथनीय कठिन लड़ाई तब तक लड़ी जब तक कि जापान ने विश्वयुद्ध में हार के बाद, शर्तों के मुताबिक कोरिया को मुक्त नहीं कर दिया। लड़ाई के दिनों में जापानियों ने किम इल-सुंग को खत्म करने के लिए सेना का 'स्पेशल किम डिवीजन' बना रखा था। लेकिन अत्यन्त प्रतिकूल परिस्थिति, शून्य से 50 डिग्री नीचे के तापमान में रहते हुए और अपने से कहीं ज्यादा उन्नत हथियारों से लैस और विशाल सेना के खिलाफ किम ने बड़ी कुशलता के साथ छापामार लड़ाई लड़ी। इसी कारण कोरियाई आम जनता की नजरों में वह हीरो थे और उनके नेतृत्व की प्रतिष्ठा तथा वैधता काफी ऊँची थी। लेकिन जापानियों की पराजय के बाद भी किम के साथियों का संघर्ष खत्म होने वाला नहीं था।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान अमरीका एक नयी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभरा। उसने पूर्वी एशिया में जापानी साम्राज्यवाद द्वारा खाली की गयी जगह को भरना चाहा। इसी मकसद से उसने चीनी इलाकों से जापानियों के हटने के साथ ही क्वोमिंतांग पार्टी की मदद करनी शुरू कर दी, जिसके खिलाफ कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में चीनी जनता संघर्ष कर रही थी। 1949 में चीन में क्रान्ति हो जाने के बाद अमरीका को वहाँ से भागना पड़ा। इस असफलता के बाद अमरीका को एशिया-प्रशान्त इलाके में पैर टिकाने के लिए किसी स्थाई जगह की जरूरत थी।

इसी के मद्देनजर उसने कोरिया में चीन से भी बड़ा हस्तक्षेप किया। चूँकि जापानी उपनिवेशवाद के खिलाफ कोरिया के उत्तर में छापामार लड़ाई चल रही थी और दक्षिण के मैदानी हिस्से में, जहाँ जापानियों की पकड़ मजबूत थी, बगावत और जनअसन्तोष मौजूद था। अमरीका को पूरी आशंका थी कि अगर कोरियाई लोगों को स्वतंत्र रूप से सरकार चुनने का अधिकार दिया गया तो किम इल-सुंग का देश का नेता बनना तय था। तब एशिया-प्रशांत इलाके में वर्चस्व के लिए अमरीका ने जो मंसूबा बाँध रखा था, उस पर पानी फिर जाता। इसीलिए जिस दिन जापान के नागासाकी पर परमाणु बम गिराया गया, उसके अगले ही दिन अमरीकी युद्ध मंत्रालय ने इस बात पर माथापच्ची की कि कोरिया का बँटवारा कैसे किया जाये। उन्होंने 38 पैरेलल रेखा को इस उद्देश्य के लिए सबसे उचित पाया और इसके ठीक तीन हफ्ते बाद एक फौजी सरकार स्थापित करने के लिए 25,000 अमरीकी लड़ाकू सैनिक देश के दक्षिण हिस्से में दाखिल हुए।

अमरीका के प्रवेश के साथ ही कोरिया उत्तर और दक्षिण में बँट गया। उत्तर कोरिया में रूस और चीनी कम्युनिस्ट पार्टी समर्थित किम इल-सुंग की सरकार और दक्षिण कोरिया में अमरीकी उपनिवेशी सरकार अस्तित्त्व में आयी। दक्षिण में अपने कब्जे को पक्का करने के लिए अमरीका ने जापानी शाही सेना के क्रूर और कुख्यात अधिकारियों को, जो भी उसके हाथ लगे, अपने में मिला लिया। दक्षिण कोरियाई जनता के लिए मुक्ति का मतलब महज कुछ चेहरों का बदलना भर रहा। अमरीका ने दक्षिण कोरिया की गद्दी पर सिंगमैन री नाम के एक पिट्ठू को बैठाया। सिंगमैन री वैसे तो जन्म से कोरियाई था लेकिन वह अमरीका में ही शिक्षित-प्रशिक्षित हुआ था और अमरीकी सत्ता प्रतिष्ठानों से घुलामिला था। 1947 में संयुक्त राष्ट्र ने दक्षिण कोरिया को एक स्वतंत्र देश घोषित कर दिया, फिर भी इसकी वास्तविक कमान अमरीकी सेना प्रमुख डॉगलॉस मैकर्थर के हाथ में बनी रही। दक्षिण कोरिया में अमरीकी पकड़ पक्की हो जाने के बाद 1948 में वहाँ चुनाव कराया गया, जिसमें सिंगमैन री 92.3 प्रतिशत वोट हासिल कर राष्ट्रपति बन गया। सिंगमैन री ने देश में एक क्रूर तानाशाही का राज कायम किया। उसका प्रमुख काम था देश में वामपंथी विद्रोह को दबाना और कम्युनिस्टों की चुन-चुन कर हत्या करना। इतिहासकारों का मानना है कि उत्तर और दक्षिण कोरिया के बीच जून

1950 में युद्ध छिड़ने के पहले ही एक से दो लाख दक्षिण कोरियाई नागरिकों की हत्या की जा चुकी थी।

कोरिया उत्तर और दक्षिण की सीमारेखा को 38 पैरलल के नाम से जाना जाता था और जिसकी कमान भूतपूर्व जापानी कमांडर के हाथ में थी, इसके उत्तर की ओर लगातार घुसपैठ होती रही, जिसका नतीजा 25 जून, 1950 में खुले युद्ध के छिड़ जाने में हुआ। इसमें किम इल-सुंग की सेना दक्षिण में घुस गयी और दक्षिण कोरिया के कई हिस्सों में भी बगावत फूट पड़ी। 27 जून को संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद में अमरीका ने उत्तर कोरिया पर हमला बोलने का प्रस्ताव पास करा लिया। चूँकि इस दौरान सोवियत संघ ने चीन को मान्यता देने की माँग पर सुरक्षा परिषद का बहिष्कार कर रखा था। इसलिए वह अपना वीटो इस्तेमाल नहीं कर सकता था। इस तरह उत्तर कोरिया पर हमला करने वाली सेना का झण्डा तो संयुक्त राष्ट्र का था लेकिन वास्तव में यह डॉगलॉस मैकर्थर के नेतृत्व में अमरीकी सेना ही थी।

युद्ध के दो महीने के अन्दर ही किम की जन सेना अमरीकी नेतृत्व वाली सेना को पछाड़ते हुए सियोल तक पहुँच गयी। लेकिन अमरीकी सेना नयी चाल चलकर उत्तर कोरियाई सेना को खदेड़ते हुए अन्दर यालू नदी यानी चीन की सीमा तक पहुँच गयी। चीन ने पहले ही घोषणा कर रखी थी कि अगर अमरीकी सेना यालू नदी तक आती है तो वह आत्मरक्षा के लिए युद्ध में कूद पड़ेगा। इसके बाद चीनी सेना अमरीकी सेना को पीटते हुए दक्षिण तक ले गयी और सियोल पर कब्जा जमा लिया। चीन के इस सैन्य अभियान को सोवियत संघ की वायु सेना की मदद मिली। दरअसल अमरीकी सरकार चीन को छेड़ना नहीं चाहती थी। क्योंकि अभी हाल ही में चीनी जन सेना से उसे पराजय मिली थी और क्रान्ति के बाद पूरी दुनिया में चीन की प्रतिष्ठा बहुत अधिक बढ़ गयी थी। इसके अलावा, सोवियत संघ की चीन के साथ सैनिक सन्धि थी जिसका अर्थ था कि चीन पर हमले का मतलब एक और विश्वयुद्ध का खतरा। लेकिन डॉगलॉस मैकर्थर ताकत में अन्धा एक अव्वल दर्जे का साम्राज्यवादी था। उसका इरादा युद्ध को चीन तक फैलाने का था। अमरीकी सरकार को इसकी भनक लगते ही मैकर्थर को हटा दिया गया। चीन और उत्तर कोरियाई सेना के साथ अमरीका की लड़ाई सीमा रेखा के इर्दगिर्द लगभग डेढ़ साल तक चलती रही। अमरीका को लग गया था कि वह इस युद्ध में जीत हासिल नहीं कर सकता है इसलिए आखिरकार 1953 में युद्धविराम सन्धि के साथ युद्ध का खात्मा हो गया।

जनता पर ढाये गये जुल्मों की बातों के बिना कोरियाई युद्ध का विवरण खत्म नहीं हो सकता। युद्ध में उत्तर कोरिया की 96 लाख आबादी में 13 लाख और दक्षिण कोरिया की 2 करोड़ 2 लाख आबादी में सवा 32 लाख आबादी खत्म हो चुकी थी। इसके अलावा, 5 लाख चीनी और 37 हजार अमरीकी सैनिक भी इसकी भेंट चढ़ चुके थे। अमरीका ने उत्तर कोरिया पर 6 लाख 35 हजार टन वजन के बम गिराये, जिसमें 32 हजार टन आग लगाने वाले नापाम बम भी शामिल हैं। युद्ध में शामिल एक भूतपूर्व अमरीकी वायु सेना के कमान्डर कुर्टिस लीमे ने बाद में दिये गये साक्षात्कार में बताया कि ''हम वहाँ गये और लड़े और आखिरकार किसी न किसी तरीके से उत्तर कोरिया के सभी शहरों और दक्षिण के कुछ शहरों को भी पूरी तरह जला डाला।'' एक अमरीकी जज ने कोरियाई युद्धक्षेत्र का दौरा करने के बाद कहा कि ''मैंने युद्ध विध्वस्त यूरोप को देखा है लेकिन विनाश क्या चीज है यह कोरिया को देखने के बाद ही पता चला।'' लड़ाई के बाद उत्तर कोरिया का कोई भी ढाँचा साबुत बचा नहीं था। दक्षिण में भी जनता को अपार जुल्म सहना पड़ा। इतिहासकारों ने लिखा कि युद्ध शुरू होने के कुछ महीनों के अन्दर ही वहाँ की सरकार ने उत्तर समर्थक 3 लाख लोगों की हत्या कर दी थी।

साम्राज्यवाद यानी बर्बरता और हिंसा

अपने घर से 10 हजार किलोमीटर दूर जाकर अमरीका ने अगर इतने बड़े पैमाने पर खून की नदियाँ बहायी और खुद भी जान-माल का काफी नुकसान उठाया तो यह यूँ ही नहीं था। दरअसल, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद दुनिया के साम्राज्यवादी देशों के नेता की टोपी ब्रिटेन से अमरीका के सर पर आ गयी थी। लेकिन एक के बाद एक दो विश्वयुद्धों की विभीषिका ने साम्राज्यवादी-पूँजीवादी व्यवस्था के चेहरे पर कालिख पोत दी थी। इसके अलावा, सोवियत संघ के नेतृत्व में एक मजबूत समाजवादी खेमा भी मौजूद था जो दुनिया के अरबों लोगों की उम्मीदों का केन्द्र बना हुआ था। इसलिए समाजवादी व्यवस्था उसके अस्तित्त्व के लिए सीधी चुनौती थी। कोरिया और दक्षिण-पूर्व एशिया, खासतौर पर हिन्द-चीन के देशों में जनता का सशस्त्र संघर्ष चल रहा था और सभी देश समाजवादी खेमें में शामिल होने की कगार पर थे। ऐसे में अगर अमरीका कोरिया में हस्तक्षेप नहीं करता तो एशिया में उसका दबदबा कायम नहीं हो सकता था।

इतना ही नहीं, समाजवादी विचारों के दबदबे वाले उस इलाके में अमरीका दक्षिण कोरिया में पूँजीवादी विकास का एक ऐसा मॉडल बनाना चाहता था जो बाकियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन सके। आज जो लोग दक्षिण कोरिया के विकास मॉडल की तारीफ करते हैं या उत्तर से तुलना करते हैं, उन्हें यह पता नहीं होगा कि कितने बड़े पैमाने पर हिंसा की बुनियाद पर इस मॉडल को खड़ा किया गया है। जापान से मुक्त हो जाने के बाद दक्षिण कोरिया की गद्दी अगले 55 साल तक अमरीका के पिट्ठू तानाशाहों के कब्जे में थी। इस दौरान, बन्दूक की नोक पर भूमि सुधार को अंजाम दिया गया जिससे करोड़ों किसान अपनी जमीन से उजड़ कर शहरों की तरफ आये। शहरों में अमरीका की

मदद से उद्योगों का तेजी से विस्तार किया गया। उजड़े किसान इन कारखानों के लिए सस्ते मजदूर के रूप में मिले। इस औद्योगिकीकरण में अमरीका ने भरपूर पैसा, तकनीक और तैयार माल के लिए अपना बाजार उपलब्ध कराया। यह एक असामान्य विकास मॉडल था क्योंकि इसके केन्द्र में अमरीका का राजनीतिक हित छुपा हुआ था।

पूँजीवादी विकास का मॉडल दूसरों की कीमत पर चमकता है। यह दुःख के समन्दर में सुख के टापू जैसा होता है। उत्तर कोरिया के किम इल-सुंग को विरासत में खण्डहर बना देश मिला था और उसे शून्य से शुरू करना था। सोवियत संघ से मिले सहयोग के बल पर उसने आगे कदम बढ़ाया ही था कि सोवियत नेता स्तालिन का देहान्त हो गया। नया सोवियत नेता धुर स्तालिन विरोधी था, उसने किम की कोई खास मदद नहीं की। चीन भी अभी उसे कोई ज्यादा मदद करने की स्थिति में नहीं था। लेकिन किम एक प्रशिक्षित छापामार थे, अपने संसाधनों पर जीने की कला उन्हें आती थी। उन्होंने 1955 में कोरियाई जनता के सामने 'जुचे' विचार को रखा। यह चीन की आत्मनिर्भरता वाले रास्ते का कोरियाई रूप था। इसका अर्थ यह है कि अपने रास्ते, राजनीति और आर्थिक विकास के लिए खुद पर भरोसा रखना और समाजवादी विकास को आगे बढ़ाना सम्भव है। यानी क्रान्ति और निर्माण की असली ताकत और प्रेरक शक्ति जनता है।

1990 तक आते-आते दुनिया की राजनीतिक तस्वीर काफी बदल गयी थी। समाजवादी देशों का खेमा बिखर गया था और लगभग सभी देशों में पूँजीवाद को आगे बढ़ाने वाली सत्ताएँ कायम हो गयी थी। अमरीका द्वारा निर्मित समाजवादी हौवा इससे पहले ही खत्म हो गया था। हालाँकि उत्तरी कोरिया में आज भी पुरानी व्यवस्था कायम है। यहाँ उत्पादन के साधन राज्य मालिकाने वाले उद्योगों और सामूहिक खेती के जरिये राज्य के अधीन हैं। स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास और खाद्य उत्पादन जैसी ज्यादातर सेवाओं पर या तो सब्सिडी मिलती है या सरकार से फंड मिलता है। निरंकुश शासन के अधीन एक हद तक समानता और स्वाभिमान के साथ लोग जीते हैं। फिर भी इस देश को आज कोई चुनौती नहीं मानता।

इसके बावजूद अमरीका ने उत्तरी कोरिया की घेरेबन्दी को खत्म नहीं किया। दक्षिण कोरिया और जापान में उसके सैनिक अड्डे आज भी मौजूद हैं, जहाँ एक लाख से ज्यादा अमरीकी सैनिक तैनात हैं और आये दिन वहाँ अमरीका-जापान-दक्षिण कोरिया द्वारा संयुक्त युद्धाभ्यास किया जाता है। अस्तित्त्व के इस खतरे के कारण उत्तर कोरिया को अपने संसाधनों का एक बड़ा हिस्सा सुरक्षा के मद में खर्च करना पड़ता है। ढाई करोड़ आबादी वाले इस देश के पास आज दुनिया की चौथी सबसे बड़ी फौज है। 1990 के बाद इराक और अफगानिस्तान पर अमरीकी चढ़ाई ने उत्तर कोरिया को परमाणु हथियार विकसित करने के लिए बाध्य किया और 2006 में उसने पहला परमाणु परीक्षण किया। यही वह साल था जब अपदस्थ इराकी राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन की अमरीका के निर्देश पर हत्या कर दी गयी थी।

मिसाइल और परमाणु कार्यक्रम विकसित करना उत्तर कोरिया के नेताओं की सनक नहीं है जैसाकि आमतौर पर प्रचारित किया जाता है। ठोस वादों के बदले इन्हें खत्म करने की उत्तर कोरिया ने इच्छा भी जाहिर की थी, लेकिन हर बार उसे छला गया। किसी झाँसे में आकर वह अपना कार्यक्रम खत्म नहीं कर सकता, क्योंकि उसे इराक के सद्दाम और लीबिया के गद्दाफी का हश्र पता है। सद्दाम और गद्दाफी ने अमरीकी झाँसे में आकर अपने परमाणु कार्यक्रमों को त्याग दिया था।

कोरिया के लोग युद्ध नहीं चाहते हैं। युद्ध का फिलहाल कोई कारण भी नहीं है। लेकिन अमरीका का साम्राज्यवादी मंसूबा शान्ति बहाल नहीं होने देगा। आज चीन, जापान और दक्षिण कोरिया में पूँजी निवेश और आयात-निर्यात का घनिष्ठ सम्बन्ध बन गया है। जापान के बाजार को रेल के जरिये दक्षिण कोरिया और चीन से होते हुए रूस के ब्लादिवोस्तक से जोड़ने की बात भी सामने आ गयी है। क्योंकि इस रास्ते जापानी माल समुद्री रास्ते के मुकाबले आधी कीमत पर यूरोप तक पहुँच सकता है। अगर अमरीकी दखलंदाजी न हो तो ऐसा हो सकता है और समय के साथ-साथ उत्तर कोरिया भी इस पूँजीवादी विकास का हिस्सा बन सकता है। लेकिन अमरीका ऐसा नहीं होने देगा। क्योंकि तब इस क्षेत्र से उसके पाँव उखड़ जायेंगे और चीन ही एकमात्र महाशक्ति बचेगा। इसके अलावा सुरक्षा के नाम पर इस इलाके में अरबों डॉलरों का वह जो हथियार बेचता है उसका भी उसे नुकसान उठाना पड़ेगा।

यहाँ सवाल महज अमरीका का नहीं है, साम्राज्यवादी व्यवस्था का भी है। लगभग एक सदी पहले इसका मुखिया ब्रिटेन था, आज अमरीका है और कल चीन या रूस बन सकता है। जब तक यह कायम रहेगी, गरीब और कमजोर मुल्कों का खून चूसकर अपनी समृद्धि में इजाफा करती रहेगी। उसकी पूँजी और तकनीक देशों के सहज विकास को बाधित करती रहेगी और उसके आगे न झुकने पर फौजी दखलन्दाजी होती रहेगी। अफ्रीका से लेकर इराक, सीरिया और अफगानिस्तान तक फैली हिंसा में साम्राज्यवादी व्यवस्था ही सबसे बड़ा कारण है। भारत जैसे देशों की जनता की बदहाली में भी इसकी मौजूदगी एक बड़ा कारण है। इस व्यवस्था से मुक्ति ही इन समस्याओं से निजात पाने का सबसे पहला कदम हो सकता है।

क्यूबा पर फिर अमरीकी प्रतिबन्ध

--प्रवीण कुमार

अमरीका के पूर्व राष्ट्रपति बराक ओबामा ने 2014 में क्यूबा के साथ रिश्ते सुधारने की जो शुरुआत की थी, मौजूदा राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रम्प ने उससे हाथ खींच लिया है। जून में अमरीका ने अपने नागरिकों के क्यूबा जाने पर फिर से प्रतिबन्ध लगा दिया। अकरीकी जनता ने प्रतिबन्धों का खुलकर विरोध किया। मिनी हवाना कहे जाने वाले मियामी में सरकार के इस फैसले के खिलाफ प्रदर्शन हुए। इसके साथ ही उन कम्पनियों ने भी सरकार के फैसले का विरोध किया है जिनकी वहाँ पूँजी लगी है।

इन नये प्रतिबन्धों के बहाने के रूप में पहले ट्रम्प ने 'ह्यूमन राइट वॉच' की एक रिपोर्ट को चुना था जिसमें बताया गया था कि सन 2016 में क्यूबा में 9940 लोगों को राजनीतिक कारणों से नाजायज रूप से पुलिस हिरासत में लिया गया। हालाँकि बाद में ट्रम्प के ही बयानों में अमरीकी कम्पनियों के हित की बात सामने आ गयी।

क्यूबा के साथ सम्बन्धों को सामान्य करने के बराक ओबामा के फैसले के पीछे भी अमरीका के आर्थिक हित ही थे। 2014 में उन्होंने कहा था कि "हम दशकों से चली आ रही, पुरानी पड़ चुकी उस सोच को खत्म करेंगे जो हमारे हितों को आगे बढ़ाने में नाकाम रही है, इसके स्थान पर हम दोनों देशों के बीच सम्बन्धों को सामान्य करने की शुरुआत करेंगे।" इसी सोच के आधार पर अमरीकी बैंकों को क्यूबाई वित्तीय संस्थाओं से लेन-देन करने, अमरीकी नागरिकों को क्यूबा की यात्रा करने, दोनों देशों के बीच दूरभाषीय और इन्टरनेट का सम्पर्क बढ़ाने सम्बन्धी समझौते हुए और हवाना में अमरीकी दूतावास को फिर से चालू किया गया।

इन समझौतों से दोनों देशों को लाभ हुआ। अमरीकी पूँजी क्यूबा में आधारभूत ढाँचे और रियल एस्टेट में निर्माण के कामों में लगी। क्यूबा के बन्दरगाहों पर अमरीकी जहाज, हवाई अड्डों पर अमरीकी विमान, शहरों में अमरीकी कम्पनियों के होटल व उपभोक्ता माल नजर आने लगे। शहरों को इन्टरनेट की तेज रफ्तार केबलों से जोड़ा जाने लगा। इन सब कामों से गूगल, इआईआर वी एन वी, स्टारवुड होटल्स जैसी अमरीकी कम्पनियों को अपने कारोबार के विस्तार के मौके मिले।

क्यूबा 2009 से ही अपनी आर्थिक समस्याओं को नियन्त्रण में रखने के लिए सीमित रूप से कृषि, रियल एस्टेट, खुदरा व्यापार जैसे क्षेत्रों में निजी निवेश को दे छूट रहा था। हालाँकि अब तक भी कुल रोजगार के 80 फीसदी से ज्यादा सार्वजनिक या सरकारी क्षेत्र में है। दरअसल क्यूबा का आकार इतना छोटा और संसाधन इतने सीमित हैं कि वह आज के आर्थिक नव उपनिवेश के दौर में समाजवादी निर्माण तो क्या किसी तरह अपनी स्वतन्त्रता बचाये हुए है, यही ताज्जुब की बात है। 2014 के बाद आयी अमरीकी पर्यटकों की बाढ़ से भारी मात्रा में अमरीकी डॉलर क्यूबा आया और साथ ही अमरीकी कम्पनियों ने प्रयत्क्ष निवेश भी किया। इन दोनों ही रास्तों से क्यूबा की अर्थव्यवस्था को तात्कालिक रूप से काफी फायदा मिला। नये बदलावों के अनुरूप ही क्यूबा को अपनी अर्थव्यवस्था सम्बन्धी नियमों में बदलाव भी करने पड़े लेकिन इसके बावजूद भी अर्थव्यवस्था पर सरकार का मजबूत नियन्त्रण कायम रहा।

डोनाल्ड ट्रम्प अर्थव्यवस्था पर क्यूबा सरकार के नियन्त्रण से खफा थे। अमरीकी संस्था 'काउन्सिल ऑन फोरन रिलेशन' के अनुसार वे चाहते थे कि क्यूबा वैश्वीकरण की नीतियों को स्वीकार करके कम से कम कृषि और खुदरा क्षेत्रों में निजी निवेश की और ज्यादा छूट दे। उनका यह भी मानना है कि जब तक क्यूबा बुर्जुवा तरीके की चुनाव प्रणाली नहीं अपनायेगा तब तक उसके साथ सम्बन्ध सामान्य नहीं हो सकते।

क्यूबा में पर्यटन के क्षेत्र पर सेना का नियंत्रण है। सैन्य कम्पनी 'गैविओरा' देश की पर्यटन के क्षेत्र की सबसे बड़ी कम्पनी है। अमरीका की हॉस्पिटेलिटी क्षेत्र की कम्पनियों को क्यूबा में निवेश करने के लिए क्यूबाई सेना को राजस्व देना पड़ता है। 2014 के बाद क्यूबाई सेना ने 'स्टारवुड होटल्स' नाम की अमरीकी कम्पनी को अपने कुछ हाटलों के संचालन की जिम्मेदारी दी थी। इस कम्पनी का मानना था कि यह जल्दी ही क्यूबा में पर्यटन के क्षेत्र में बढ़त हासिल कर लेगी। लेकिन पिछले दो सालों में पर्यटन में आये भारी उछाल से 'गैविओरा' ने जबरदस्त लाभ कमाया और अगले वर्षों में कम्पनी का आकार दोगुना करने का दावा किया गया। अमरीकी कम्पनी 'स्टारवुड' ने अपने पिछड़ने का कारण सेना को दी जाने वाली रॉयल्टी बताया।

अमरीकी विदेश नीति पर केन्द्रित पत्रिका 'फॉरन पॉलीसी' के अनुसार राष्ट्रपति ट्रम्प ने इसे "सेना का उत्पीड़नकारी व्यवहार" माना है। क्यूबा में अमरीकी पर्यटकों के जाने पर पाबन्दी लगाते हुए उन्होंने कहा था कि "हम पर्यटन को प्रतिबन्धित करके... व्यापार को प्रतिबन्धित करके... सैन्य, सुरक्षा और खूफिया सेवाओं में अमरीकी डॉलर के प्रवाह को कठोरता से प्रतिबन्धित करते हैं।" "मेरी आज की कार्रवाई क्यूबा की सेना और सरकार को दरकिनार करके क्यूबाई जनता को खुद अपने व्यापार को निर्मित करने और बेहतर जीवन में मदद करने के लिए है।"

ट्रम्प के बयानों से स्पष्ट है कि वे क्यूबा में मौजूदा शासन को खत्म करके वहाँ अमरीकी वैश्वीकरण की पैरोकार सत्ता चाहते हैं। उन्हें लगता है कि अमरीकी पर्यटकों के क्यूबा जाने पर प्रतिबन्ध लगाकर क्यूबा सरकार को झुकने पर मजूबर कर देंगे। लेकिन उन्हें याद नहीं है कि 1990 में सोवियत रूस के बिखराव के बाद जब क्यूबा का सकल घरेलू उत्पादन 34 प्रतिशत से भी ज्यादा गिर गया था तब भी उसने अमरीकी वैश्वीकरण की गुलामी को स्वीकार नहीं किया था।

नरेन्द्र-नेतेन्याहू भाईचारा

--मोहित

जुलाई के पहले सप्ताह में प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने एक और रिकॉर्ड बनाया। वे इजराइल की यात्रा पर जाने वाले पहले भारतीय प्रधानमंत्री बन गये। यह इच्छा उनके मन में काफी लम्बे समय से थी। 2014 में प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठते ही उन्होंने इजराइल जाने की इच्छा जतायी थी। इजराइली राष्ट्रपति बैंजामिन नेतेन्याहू से उनकी दोस्ती काफी पुरानी है और वे गुजरात के मुख्यमंत्री के रूप में इजराइल की कई यात्राएँ कर चुके हैं। दोनों राष्ट्राध्यक्षों की मुलाकात काफी बिरादराना रही। बहुत से समझौते करने के अलावा दोनों ओल्गा तट पर समुद्र के पानी में छप-छपा-छप भी खेले।

जब प्रधानमंत्री इजराइल में थे तो यहाँ हिन्दुत्ववादी प्रचार तन्त्र यहूदी राष्ट्र इजराइल की महानता और उसकी शक्ति का गुणगान करने में जी जान से जुटा था। टीवी चैनल दिखा रहे थे कि इजराइल कितने खतरनाक हथियार बनाता है। उसकी सेना कितनी लड़ाकू है। कैसे सारे पड़ोसी देशों को नकेल डालकर रखती है। इजराइल 'आतंकवादी' फिलीस्तीनी जनता से कितनी 'कुशलता' से निपटता है। वहाँ की जासूसी संस्था मोसाद कितने शानदार तरीके से षडयंत्र रचती है। आदि-आदि। इशारे-इशारे में यह भी बताया जा रहा था कि भारत को भी कश्मीर में ऐसे ही निपटना चाहिए।

हिन्दुत्ववादियों के लिए इजराइल हमेशा ही अनुकरणीय रहा है। इसकी जड़ में जियोनिज्म की वह धर्मान्ध विचारधारा है जिसके आधार पर इजराइल राष्ट्र का निर्माण हुआ था। एक तो यह विचारधारा हिन्दुत्व की विचारधारा से मेल खाती है, दूसरे, इसके निशाने पर मुसलमान हैं। इस विचारधारा का प्रवर्तक एक यहूदी पत्रकार थ्योडर हर्जिल था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में जब पूरे यूरोप में धार्मिक-राष्ट्रवाद अपने उफान पर था तो हर्जिल ने एक यहूदी राष्ट्र की कल्पना की थी। इसके अनुसार दुनिया भर के यहूदियों को फिर से अपनी पवित्र भूमि येरुशलम लौटना चाहिए, जो फिलीस्तीन में थी। इससे प्रभावित होकर कुछ यहूदी फिलीस्तीन जाकर बसे भी।

1917 में ब्रिटेन ने इस सोच को खूब हवा दी। उस वक्त फिलीस्तीन ब्रिटेन का उपनिवेश था। यूरोप के देशों से लाकर यहूदियों को फिलीस्तीन में बसाया जाने लगा। पहले विश्व युद्ध के बाद फिलिस्तीन में यहूदी आबादी 3 प्रतिशत से बढ़कर 30 प्रतिशत हो गयी। फूट डोलो, राज करो की नीति के आधार पर ब्रिटेन लगातार जियोनिस्ट संगठनों को फिलीस्तीनी अरबों के खिलाफ बढ़ावा देता रहा। 1936 में जब अरबों ने ब्रिटेन के शासन के खिलाफ विद्रोह कर दिया तो अंग्रेजों ने इसके जवाब के रूप में धर्मान्ध जियोनिष्ट संगठनों को हथियारबन्द किया और उनसे फिलिस्तीनियों का संहार करवाया। अरबों के बीच हमेशा के लिए अपना लठैत बैठा देने के लिए 1947 में पश्चिमी साम्राज्यवादी देशों ने अमरीका की अगुवाई में फिलीस्तीन में इजराइल को एक यहूदी राष्ट्र के रूप में स्थापित कर दिया और इसकी सत्ता जियोनिष्टों को सौंपी। तब से आज तक इजराइल फिलिस्तीनी जनता को उत्पीड़ित करते हुए लगातार उनके इलाकों पर कब्जा करता रहा है। उस वक्त फिलिस्तीन के पास जो इलाका बचा था आज उसका आधे से ज्यादा इजराइल के कब्जे में जा चुका है। यहाँ तक कि आज इजराइल फिलिस्तीन को एक अलग राष्ट्र मानने से ही इन्कार कर चुका है।

भारत के हिन्दुत्ववादी राष्ट्रभक्तों की बातों से साफ हो जाता है कि उनकी सोच भी जियोनिष्टों से मेल खाती है। उनके सपनों के भारत के नक्शे में पाकिस्तान, अफगानिस्तान, नेपाल, भूटान बांग्लादेश, बर्मा, श्रीलंका तक शामिल होते हैं। उनका 'श्रीराम' कान तक धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाये हुए, किसी की भी हत्या को तत्पर 'राम' हैं। नरेन्द्र मोदी की यात्रा के निहितार्थ बताते हुए 5 जुलाई को टाइम्स ऑफ इंडिया ने लिखा था कि "सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि वास्तव में मोदी ने इजराइज को पैदा करने वाले जियोनिष्ट-आन्दोलन के जनक थ्योडर हर्जिल के प्रति अपना सम्मान प्रकट किया है।"

दुनिया में हुए बदलावों ने फिलिस्तीन की तकदीर को भी बदल दिया। राष्ट्रों की मुक्ति की धारा और उसका समर्थक समाजवादी खेमा कमजोर पड़ जाने के कारण फिलिस्तीन की मुक्ति का रास्ता भी मुश्किल होता गया। 1993 तक आते-आते अरब का शेर कहे जाने वाले 'यासर अराफात' भी कैम्प डेविड में साम्राज्यवादी अमरीका और इजाइल के सामने घुटने टेकने को मजबूर हो गये। लेकिन आज दुनिया की चेतना उस स्तर पर पहुँच चुकी है कि फिलिस्तीन की जनता इजराइल के अधिपत्य को स्वीकार कर ही नहीं सकती।

इस बदलाव का असर भारत की विदेशनीति पर भी पड़ा। 1992 से पहले तक भारत फिलिस्तीन का मजबूत समर्थक था, क्योंकि फिलिस्तीन की तरह ही हमारा देश भी 200 साल तक अंग्रेजों का गुलाम रहा था। दुनिया की परिस्थिति भी कुछ अनुकूल थी और हमारे नेताओं को इस गुलामी की पीड़ा का भी एहसास था। 1975 में भारत ने फिलिस्तीनियों के लड़ाकू संगठन 'फिलिस्तीन लिब्रेशन ऑर्गेनाइजेशन'

का दिल्ली में दफ्तर खुलवाया था। उस वक्त अकेले जन संघ ने इसका विरोध किया था। एक ध्रुवीय विश्व में अमरीकी वर्चस्व को स्वीकार करने के बाद, 1992 में पहली बार तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने इजराइल के साथ राजनयिक सम्बन्ध कायम किये थे। लेकिन कांग्रेस ने कभी उसका मुखर समर्थन नहीं किया। इसके विपरीत अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व वाली भाजपा सरकार के गृह मंत्री लाल कृष्ण आडवाणी इजराइल की यात्रा पर जाने वाले पहले बड़े भारतीय नेता थे। सन 2000 में इसी सरकार के विदेश मंत्री जसवन्त सिंह ने अपने देश की मुस्लिम आबादी के वोटों की मजबूरी जाहिर करते हुए इजराइल की राजधानी तेल अबीब में कहा था कि "भारत की इजराइल नीति उसकी घरेलू नीति की बन्दी बनी हुई है।"

यह अन्तर दोनों पार्टियों के इतिहास में भी दिखायी देता है। यहूदी राष्ट्र के रूप में निर्मित हो रहे इजराइल का विरोध करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था कि "यहूदियों के साथ मेरी पूरी सहनूभूति है..." लेकिन "मेरी सहानुभूति मुझे न्याय की माँग से आँख मूँद लेने के लिए नहीं कहती। यहूदियों के लिए अलग राष्ट्र की माँग मेरे हृदय को नहीं छूती...। वे धरती के दूसरे मनुष्यों की तरह उसी देश को अपना घर क्यों नहीं मानते जहाँ वे पैदा हुए हैं और जहाँ से अपनी जीविका कमाते हैं...।" उन्होंने 1938 में हरिजन अखबार में लिखा था, "अरबों का फिलिस्तीन से वही रिश्ता है जो अंग्रेजों का इंग्लैण्ड से और फ्रांसीसियों का फ्रांस से। अरबों पर यहूदियों को थोपना गलत और अमानवीय है। आज जो फिलिस्तीन में हो रहा है उसे नैतिकता के किसी भी मानदण्ड पर सही नहीं ठहराया जा सकता।"

इसके ठीक विपरीत इंग्लैण्ड और अमरीका की यहूदी राष्ट्र के निर्माण की नीति की वकालत करते हुए वी डी सावरकर ने दिसम्बर 1947 में कहा था कि "मैं यह जानकर खुश हूँ कि दुनिया के अगुआ राष्ट्रों के भारी बहुमत ने फिलिस्तीन की धरती पर यहूदियों के लिए एक अलग यहूदी राष्ट्र की स्थापना को मान्यता दे दी है और इसे हकीकत में बदलने के लिए हथियार की सहायता का वादा किया है।" वे आगे लिखते हैं "अरबी मुसलमानों ने जब हमारे सिंध पर हमला किया उससे कुछ ही दशकों पहले उन्होंने फिलिस्तीन पर कब्जा किया था। उनके धर्मान्धि उन्माद ने प्राचीन मिस्रियों या फारसियों को मिटा दिया था। उन्होंने आग और तलवार के दम पर यहूदियों को भी मिटाने की कोशिश की थी। लेकिन इस नापाक इरादे में वे कामयाब नहीं हुए अरबी मुसलमानों की पित्र भूमी अरब में है न कि फिलिस्तीन है।"

भाजपा और इसका मातृ संगठन आरएसएस आज तक इसी भाषा का इस्तेमाल करते हैं। भाजपा और इजराइल में सत्तासीन नेतेन्याहू की जियोनिस्ट पार्टी लीकुड की विचारधारा एक ही है। दोनों ही पार्टियाँ धर्मान्ध राष्ट्रवाद की समर्थक हैं। दोनों अपने राजनीतिक विरोधियों और दूसरे धर्मों की आबादी पर हिंसा में विश्वास करती हैं। अपने कमजोर पड़ोसी राष्ट्रों को दबाना, उन पर हमले करना दोनों ही बहादुरी का काम समझती हैं। इस सबसे बढ़कर दोनों राजनीतिक पार्टियों में एक समानता और है दोनों ही अपनी जाति की उत्कृष्टता, सैन्य उत्कृष्टता, निजीकृत और पूँजीपति के नियंत्रण वाले राष्ट्र में विश्वास करती हैं।

आरएसएस और उसके अनुषांगी संगठनों के प्रचारक हमें जिस इजराइल जैसा देश बनने का सपना दिखाते रहते हैं उस इजराइल ने इनसानियत के खिलाफ इतने घिनौने अपराध किये हैं और लगातार कर रहा है कि कोई इंसाफ पसन्द देश उससे रिश्ता रखना भी पसन्द नहीं करेगा। 1947 में जब फिलिस्तीन की धरती पर जबरन इजराइल बनाया गया था तो वहाँ फिलिस्तीनियों (मुसलमानों) की आबादी 11.5 लाख थी जो दो साल बाद 1949 में घटकर मात्र दो लाख रह गयी। बाकी के फिलिस्तीनी या तो कत्ल कर दिये गये या खदेड़ दिये गये। 1946 में इजराइल में यहूदियों के पास कुल जमीन की 12 फीसदी थी जो 1948 में बढ़कर 77 फीसदी हो गयी। इस जमीन पर आबाद अरबों का क्या हुआ होगा, इसका हम आसानी से अन्दाजा लगा सकते हैं।

इजराइल में बसने वाले अरबों को वोट देने का अधिकार नहीं है। उनके बच्चे यहूदियों के स्कूलों में नहीं घुस सकते। इजराइल के फिलिस्तीनी नागरिक वहाँ जमीन नहीं खरीद सकते। किसी ऊँचे पद पर नहीं पहुँच सकते। अरब बहुल इलाकों में बसने वाले यहूदियों को सरकार मुफ्त में जमीन, भारी धनराशि और सुरक्षा की गारंटी देती है ताकि अरब आबादी को बाहर धकेला जा सके।

वैस्ट बैंक के इलाके में फिलिस्तीन के अधिकार क्षेत्र वाले इलाके के चारों ओर इजराइल सरकार ने 422 मील लम्बी 22 फुट ऊँची, दीवार खड़ी कर दी है। इजराइली सेना की अनुमति के बिना कोई इस दीवार को पार नहीं कर सकता। इसी तरह गाजा पट्टी की भी बेरिकेटिंग की गयी है वहाँ बेहद छोटे इलाके में 15 लाख लोग बन्द हैं। आये दिन यहाँ इजराइली सेना के रॉकेट बरसते रहते हैं। 4 साल के बच्चों से लेकर 92 साल के बुढ्ढे तक अपने नंगे सीनों से इजराइली टैंकों का मुकाबला करने के लिए घर से निकल पड़ते हैं। सालों से इस इलाके में बिजली नहीं है। कोई प्रशासन नहीं है। संयुक्त राष्ट्र के राहत दल भी इजराइली सेना की अनुमति के बिना गाजा में नहीं घुस सकते। उसके शरणार्थी शिविरों पर भी इजराइली सेना के बम बरसते हैं। इसके बावजूद भी गाजा के फिलिस्तीनी इजराइल के सामने शान से सर उठाये खड़े हैं। मुँह पर स्कार्फ लपेटकर इजराइली सेना पर देशी बम फेंकना यहाँ के नौजवानों के लिए 'ड्यूटी' पर जाने की तरह है।

2008 में इजराइली सेना ने गाजा पर 100 टन से ज्यादा वजन के बम गिराये थे। इस बमबारी में संयुक्त राष्ट्र के राहत शिविरों को नहीं बख्शा गया और शबरा व शातिला दो राहत शिविरों को इजराइली सेना ने ध्वस्त कर दिया। इस हमले में हजारों फिलिस्तीनी मारे गये। इजराइली राष्ट्रपति ऐरियल शोरेन को युद्ध अपराधी

घोषित करने की माँग तब पूरी दुनिया में उठी थी। इन्हीं ऐरियल शोरेन का वाजपेयी सरकार ने भारत आगमन पर जोरदार स्वागत किया था। 2015 में इजराइल ने गाजा पर फिर बमबारी की इसमें 1500 से ज्यादा लोग मारे गये। इस नरसंहार के लिए इजराइल पर अन्तरराष्ट्रीय न्यायालय में मुकदमा चलाने के लिए जब संयुक्त राष्ट्र संघ में मतदान हुआ तो भारत इजराइल के पक्ष में बेहयाई से इस मतदान से गैरहाजिर हो गया।

फिलिस्तीनी अरब जनता पर इजराइल के अत्याचार का अन्दाजा केवल इस एक तथ्य से लगाया जा सकता है आज 50 लाख से ज्याद फिलिस्तीनी जलावतन होकर पड़ोसी देशों के शरणार्थी शिविरों में रहने के लिए मजबूर हैं।

इन तमाम तथ्यों से परिचित होने के बावजूद दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र के प्रमुख नरेन्द्र मोदी ने इजराइल की तारीफ में कहा है कि "इजराइल के लोगों ने लोकतांत्रिक सिद्धान्तों के आधार पर एक राष्ट्र का निर्माण किया है।" असंख्य हत्याओं और जलावतनी की इससे बड़ी तारीफ असम्भव है।

नरेन्द्र मोदी और बेंजामिन नेतेन्याहू के बीच भी एक गजब की समानता है। दोनों ही लफ्फाजी पर पूरा भरोसा करते हैं। जनवरी में अपनी चीन यात्रा में नेतेन्याहू कहा था कि "चीन को सुपर पावर बनने के लिए जिस असली चेले की जरूरत है वह इजराइल ही है।"... और दोनों देशों का मिलन एक "स्वर्गिक शादी" की तरह है। उन्होंने मोदी से मुलाकात के बाद भी यही कहा कि "दोनों राष्ट्रों का मिलन एक स्वर्गिक शादी की तरह है।" नरेन्द्र और नेतेन्याहू का भाईचारा वास्तव में प्राकृतिक भाईचारा है।

कहाँ है क्रान्तिकारियों की निशानियाँ

--सुधीर विद्यार्थी

किसी देश का इतिहास सिर्फ कागज पर दर्ज तारीखों में साँस नहीं लेता, बल्कि उसे इस बात से भी ताकत मिलती है कि वह देश अपनी धरोहरों और दस्तावेजों को कैसे सहेज-सम्भाल कर रखता है। वह अपनी धरोहरों, इतिहास से जुड़ी निशानियों को लेकर कितना संवेदनशील है। मगर हमारे यहाँ अपने इतिहास के पुराने दस्तावेजों की तो कौन कहे, स्वतंत्रता संग्राम से जुड़े क्रान्तिकारियों तक की निशानियाँ सहेज कर रखने का उचित प्रयास नहीं किया जा सका है। इसके चलते कई ऐतिहासिक तथ्य गड्ड-मड्ड होते रहते हैं या फिर उन्हें लेकर सवाल उठते रहते हैं। क्रान्तिकारियों की ऐसी ही गुमनाम निशानियों के बारे में चन्द जानकारियाँ।

भारतीय क्रान्तिकारी दल के संगठनकर्ता शचींद्रनाथ सान्याल ने 1922 में 'हिन्दुस्तान प्रजातंत्र संघ' का संविधान रचा, जिसे 'पीला पर्चा' कहा गया। इस दल के गठन से पूर्व वे काला पानी की यात्रा से लौट कर 'बन्दी जीवन' की रचना कर चुके थे। क्रान्तिकारियों की गीता कही जाने वाली यह पुस्तक पहले बांग्ला में आयी, फिर उसका हिन्दी अनुवाद छपा, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इस आत्मकथा की मूल बांग्ला प्रति का आज किसी को पता नहीं। शचींद्र दा के निधन के सत्तर वर्षों बाद जब मैंने उनका पुराना बक्सा खोला, तो उसमें क्रान्तिकारी संग्राम के इतिहास का अमूल्य खजाना देख कर दंग रह गया। उनकी पुस्तकें 'विचार विनिमय', 'धर्म, समाज और विज्ञान', 'वंशानुक्रम विज्ञान' के साथ ही बरेली, आगरा, नैनी, लखनऊ और देवली कैंप जेल की उनकी दुर्लभ डायरियाँ और 'प्रताप', 'यंग इंडिया' की पुरानी फाइलें और जेल से लिखे उनके असंख्य पत्र, जिसके साथ रासबिहारी बोस के तोक्यो से लिखे पत्रों की अबूझ शृंखला और नेहरू और सम्पूर्णानन्द के पत्र भी हैं, जो अब तक इतिहास लेखकों की पहुँच से दूर बने हुए हैं। खेद है कि इस दुर्लभ और अमूल्य इतिहास सम्पदा को न तो कहीं संजोया गया है और न इसके प्रकाशन या उपयोग के लिए कोई सार्थक प्रयास किये गये। भारतीय क्रान्तिकारी इतिहास की ऐसी कितनी ही सामग्री समय के साथ नष्ट होती चली गयी और हम इस ओर उदासीन बने रहे। हमारे भीतर इतिहास चेतना की अनुपस्थिति का यह सबसे बड़ा प्रमाण है।

1988 की बात है, जब शहीदे-आजम भगतसिंह के साथी, काला पानी गये क्रान्तिकारी जयदेव कपूर ने मुझे भगतसिंह की दो दुर्लभ निशानियाँ सौंपते हुए कहा कि इन्हें अपने शहर में संग्रहालय बना कर सुरक्षित रखूँ। इनमें वह ऐतिहासिक घड़ी थी, जिसे देश छोड़ कर जापान रवाना होने से पहले रासूदा (रासबिहारी बोस) ने शचींद्रनाथ सान्याल को सौंप दिया था और बाद में शचींद्र दा ने वह घड़ी भगतसिंह को दी। उस घड़ी को हाथ में लेकर जयदेव दा अक्सर कहा करते थे कि कब बतायेंगी इसकी सूइयाँ क्रान्ति का वह वक्त, जिसकी प्रतीक्षा में हमने जानें खपा दीं। और एक जोड़ी जूते, जिन्हें पहन कर भगतसिंह 8 अप्रैल 1929 को दिल्ली की केन्द्रीय असेंबली में बम फेंकने गये थे। उन्हें पहली बार स्पर्श करते हुए हम सचमुच बहुत भावुक

हुए थे। भगतसिंह की ये दुर्लभ निशानियाँ, जो इतिहास की धरोहर हो सकती थीं, आज पता नहीं कहाँ पड़ी धूल खा रही हैं।

काकोरी शहीद अशफाकउल्ला के कुछ पत्रादि एक समय पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रयास से राष्ट्रीय अभिलेखागार में सुरक्षित करा दिये गये थे, पर जो चीजें उनके घर में बची रह गयी थीं, वे लापरवाही के चलते चोरी चली गयीं। पर उनके शाहजहाँपुर वाले पुराने घर में अब भी अशफाक की एक छोटी जेल नोट बुक और कुरान की वह प्रति सुरक्षित है, जिसे गले में लटका कर लब्बैक कहते हुए 19 दिसम्बर, 1927 को फैजाबाद जेल में उन्होंने फांसी घर की ओर कदम बढ़ाये थे। इस कुरान के शुरुआती पृष्ठ पर अशफाक की हस्तलिपि भी सुरक्षित है। शहीद रोशन सिंह के भी कुछ पत्र उनके गाँव नवादा वाले मकान में अभी बेतरतीब रखे हैं। मुझे याद है कि 10 अगस्त, 1972 को दिल्ली के चिरंजीलाल पालीवाल ने क्रान्तिकारियों के कुछ हथियार, जिनमें तीन पिस्तौल, चार रिवाल्वर, एक टूटी और एक शॉटगन आदि थे, जो चालीस वर्षों से उनके गली बतासान चावड़ी बाजार के घर में लोहे के एक पुराने बक्से में सुरक्षित थे, वे उन्होंने तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी को भेंट किये। इन हथियारों में चन्द्रशेखर आजाद और भगतसिंह की वे पिस्तौलें भी थीं, जिनसे उन्होंने अंग्रेज पुलिस अफसर सांडर्स को लाहौर में मारा था। साथ ही जगदीश कपूर और अन्य क्रान्तिकारियों की पिस्तौल के साथ ही वह बैटरी भी थी, जिसकी मदद से तुगलकाबाद स्टेशन पर वायसराय की ट्रेन को उड़ाया गया था। उसमें कुछ सामग्री और भी थी, जिसमें भगतसिंह का छपा हुआ बयान, जिसे उन्होंने दिल्ली बम केस के बाद दिया और सुखदेव का एक पत्र और क्रान्तिकारी भगवतीचरण के ब्लॉक तथा पेंट थे। इस सामान का विवरण 'इंडियन एक्सप्रेस' के 19 अगस्त, 1972 के अंक में छपा भी था।

चिरंजीलाल अपने विद्यार्थी जीवन में हिन्दू कॉलेज की पढ़ाई के दौरान दिल्ली विश्वविद्यालय की छात्र यूनियन के सभापति थे और उस समय उन्होंने क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में रहते उनके हथियारों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लिया था। इंदिराजी ने क्रान्तिकारियों की इन निशानियों को पाकर तब बहुत प्रसन्नता व्यक्त की थी, लेकिन नहीं पता कि बाद में उन चीजों का क्या हुआ। बनारसीदास चतुर्वेदी अपने शहीदों के मिशन के दौरान बार-बार कहते रहे कि हमें शहीद अशफाक का तमंचा तलाश करके किसी संग्रहालय में सुरक्षित करा देना चाहिए। पर वह हमें प्राप्त नहीं हो सका। यह आश्चर्यजनक है कि भगतसिंह की जेल नोटबुक की ओर हमारा ध्यान उनकी शहादत के तिरसठ वर्षों बाद तब जा सका जब एक विदेशी विद्वान एलबी मित्रोखिन ने 1981 में पहली बार प्रकाशित अपनी पुस्तक 'लेनिन एंड इंडिया' में एक अलग अध्याय इस पर लिखा और फिर 1993 में अंगरेजी 'इंडियन बुक क्रॉनिकल' से भूपेंद्र हूजा और जीबी कुमार ने उसे अपनी भूमिका के साथ जयपुर से छापा। फिर 1999 में इसका हिन्दी अनुवाद हुआ। पर ऐसा क्यों हुआ कि चार सौ पृष्ठों की इस जेल नोट बुक की एक फोटो प्रति तीन मूर्ति भवन के जवाहरलाल नेहरू मेमोरियल म्यूजियम और लाइब्रेरी में रखी रही और जिसे 1979 में अनेक शोधकर्ताओं ने देखा और पढ़ा, फिर भी उसके प्रकाशन की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। गुरुकुल कांगड़ी के तत्कालीन कुलपति हूजा 1981 में गुरुकुल इंद्रप्रस्थ, दिल्ली से बीस किमी दक्षिण तुगलकाबाद रेलवे स्टेशन के निकट दौरे पर गये थे, जहाँ संस्था के प्रमुख अधिष्ठाता स्वामी शक्तिवेश के गुरुकुल के 'हॉल ऑफ फेम' के तहखाने में सुरक्षित इस ऐतिहासिक धरोहर की एक हस्तलिखित डुप्लीकेट प्रतिलिपि दिखायी, जिसे हूजा ने कुछ दिनों के लिए माँग लिया। बाद में दिल्ली-फरीदाबाद के आर्यसमाजी भूमाफियों के हाथों शक्तिवेश की हत्या हो गयी और यह डायरी (प्रतिलिपि) हूजा के पास ही रह गयी। मित्रोखिन का कृतज्ञ होना चाहिए कि हमारे अनेक साथियों की लापरवाही और दृष्टिहीनता के चलते भगतसिंह की जो जेल नोटबुक इतिहास के अन्धेरे तहखानों में पड़ी उपेक्षा की धूल खा रही थी, वह उनके प्रयासों से प्रकाश में आकर हमारे क्रान्तिकारी दस्तावेजों का अमूल्य हिस्सा बन सकी।

फिर भी यहाँ सवाल उठता है उन चार पुस्तकों का, जिन्हें भगतसिंह ने जेल के भीतर लिपिबद्ध किया था और फाँसी से पहले अपने भाई कुलबीर सिंह की मार्फत बाहर लज्जावतीजी के पास भिजवा दिया था। वे पुस्तकें हैं- आइडियल ऑफ द सोशलिज्म, द डोर टु डेथ, ऑटोबायोग्राफी और द रिवोल्यूशनरी मूवमेंट ऑफ इंडिया। पता लगा कि इन पुस्तकों की जानकारी सिकंदराबाद (आंध्र प्रदेश) में रह रहे भगतसिंह के साथी विजय कुमार सिन्हा को थी। लज्जावती से जब भगतसिंह की इन पुस्तकों के बारे में पूछा गया तो उनका कहना था कि वह देश की सम्पत्ति थी और उसे उन्होंने पंडित नेहरू को सौंप दिया। आखिर उन पुस्तकों की खोजबीन क्यों नहीं की गयी। आखिर भगतसिंह के परिवार वालों और उनके जीवित बचे साथियों ने भी इन महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों पर चुप्पी क्यों साध ली। विजय दा से अनेक बार पूछने पर भी उन्होंने हमें इसके बारे में नहीं बताया। और भगतसिंह की कूट भाषा में लिखी जेल की उस डायरी की भी खोज-खबर नहीं मिल पायी, जिसके बारे में कुलबीर सिंह ने एक बार मित्रोखिन से चर्चा की थी। भगतसिंह के वकील प्राणनाथ मेहता भी एक डायरी रखते थे। पर बदकिस्मती से वह भी विभाजन के वक्त कुछ और कागजात के साथ लाहौर में छूट गयी। फिर पता नहीं उन चीजों का क्या हुआ। यह प्रश्न अनेक बार उठा कि भारतीय क्रान्तिकारी दल के अजेय सेनापति चन्द्रशेखर आजाद अपने पास माउजर रखा करते थे, जिसे कई बार प्यार से वे 'बमतुलबुखारा' कहते थे। सांडर्स वध में

उन्होंने इसी माउजर का प्रयोग किया था। लेकिन 27 फरवरी, 1931 को इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में ब्रिटिश पुलिस से मुठभेड़ और अपनी शहादत के समय उनके पास से कोल्ट पिस्तौल प्राप्त हुई, जिसका विवरण इस प्रकार है 'कोल्ट पिस्तौल, पीटीएफए मैन्युफैक्चर्स कं., हार्टफोर्ड सीटी (अमरीका) पेटेंटेड, अप्रैल 20, 1897-दिसम्बर 22, 1903, कोल्ट आटोमेटिक कैलिबर, 32, रिमलैस ऐंड स्मोकलेस।'

इलाहाबाद के सरकारी मालखाने की छानबीन के बाद 27 फरवरी, 1931 के रजिस्टर में आजाद की इसी पिस्तौल का विवरण दर्ज है। इसके साथ यह नोट भी लिखा है कि यह पिस्तौल नट बावर एसएसपी को, जिनकी पहली गोली से आजाद घायल हुए थे, उन्हें इंग्लैंड जाते समय भेंट कर दी गयी। चूँकि नट बावर उत्तर प्रदेश शासन से पेंशन पाते थे, ऐसी स्थिति में इलाहाबाद के कमिश्नर श्री मुस्तफी (जो बाद में लखनऊ विश्वविद्यालय के कुलपति भी रहे) की ओर से नट बावर को पिस्तौल वापस करने के लिए पत्र लिखा गया। कोई उत्तर न मिलने पर केन्द्र की मदद से इंग्लैंड स्थित भारतीय उच्चायुक्त अप्पा साहब के प्रयत्नों से नट बावर ने वह पिस्तौल इस शर्त के साथ लौटाना स्वीकार किया कि भारत सरकार उसे एक अनुरोध पत्र के साथ ही आजाद के शहादत स्थल पर लगी मूर्ति का एक फोटोग्राफ भेज दे। इस तरह 1972 के प्रारम्भ में आजाद की वह कोल्ट पिस्तौल दिल्ली आयी और फिर 27 फरवरी, 1973 को लखनऊ के गंगाप्रसाद मेमोरियल हॉल के सामने क्रान्तिकारी शचींद्रनाथ बख्शी की अध्यक्षता में आयोजित एक समारोह के बीच उसे लखनऊ संग्रहालय में संरक्षित कर दिया गया। बाद में जनता शासन के समय इलाहाबाद का नया संग्रहालय बनते ही आजाद की उस अन्तिम निशानी को वहाँ एक विशेष कक्ष में स्थानान्तरित कर दिया गया। उन्हीं दिनों इलाहाबाद संग्रहालय से आजाद के माउजर के चोरी चले जाने के समाचार से हड़कम्प मच गया, जो नितांत भ्रामक था। दरअसल, 27 फरवरी, 1931 को पुलिस मुठभेड़ में आजाद के पास कोल्ट पिस्तौल ही थी, माउजर नहीं। कोल्ट छोटी होती है, जिसे वे अपनी सुरक्षा के लिए सदा जेब में डाले रहते थे। माउजर का साइज बड़ा होता है, जिसे जेब में नहीं रखा जा सकता। यह सही है कि आजाद के पास माउजर भी रहता था, जिसका उन्होंने कई बार प्रयोग किया, पर जीवन के अन्तिम क्षणों में उनका संग-साथ कोल्ट ने ही दिया था। लेकिन आजाद का माउजर कहाँ गया, यह सवाल अनेक वर्ष पहले बार-बार उठा।

इलाहाबाद के कटरा मुहल्ले में आखिरी दिन तक आजाद के साथ रहने वाले गढ़वाल के क्रान्तिकारी भवानी सिंह रावत के मैं निकट सम्पर्क में था। रावतजी ने भी मेरे अनुरोध पर एक बार लेख लिख कर आजाद के माउजर पिस्तौल की खोजबीन का मामला उठाया, पर हमारी यह तलाश अधूरी ही बनी रही। क्रान्तिकारी भवानी सिंह के साथ मैं आजाद की बलिदान अर्धशताब्दी पर इलाहाबाद के अल्फेड पार्क में गया था, जहाँ तब आजाद और भगत सिंह-युग के अनेक क्रान्तिकारियों ने हिस्सेदारी की थी। हम रसूलाबाद घाट पर बनी आजाद की समाधि पर भी पुष्प चढ़ाने गये। इसके कुछ दिनों बाद ही समाचार मिला कि रसूलाबाद घाट पर बनी आजाद की उस समाधि को इलाहाबाद नगरपालिका के एक इंजीनियर ने तुड़वा दिया। यह था स्वतंत्र भारत में मुक्ति-युद्ध के एक सेनानी का सम्मान! आजाद की शहादत के बाद उनका दाह संस्कार उनके रिश्तेदार पं। शिवविनायक मिश्र ने इसी स्थल पर किया था। उन्होंने 2 मार्च, 1931 को उनकी अस्थियाँ बटोर कर त्रिवेणी संगम में विसर्जित कर दी थीं। कुछ अस्थियाँ वे अपने घर वाराणसी एक ताम्रपात्र में रख कर ले भी गये थे, जहाँ उन्होंने एक दीवार में छिपा कर रख दिया। 1975-76 में कुछ लोगों का ध्यान उधर गया और अस्थियाँ उनके घर से विद्यापीठ लाकर एक जुलूस में लखनऊ, मिर्जापुर, इलाहाबाद, प्रतापगढ़, रायबरेली, सोख्ता आश्रम, कालपी, उरई, झाँसी, सातार तट-ओरछा, कानपुर और बदरका होते हुए पुनः लखनऊ लाकर 10 अगस्त, 1976 को जनता के दर्शनार्थ रखी गयीं। यह स्वतंत्र भारत में सेनापति आजाद के अस्थि-कलश को हमारी अन्तिम श्रद्धांजलि थी। आजाद की शहादत पर नट बावर और ब्रिटिश खुफिया अधिकारी एसटी कालिंस का बयान भी हमारे क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रमुख दस्तावेज हैं, जिन्हें संरक्षित किये जाने की आवश्यकता है। भारतीय क्रान्तिकारियों के अनेक पत्र, दस्तावेज, आलेख और चित्र आदि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अनेक वर्षों तक विभिन्न लोगों के निजी संग्रह में उपलब्ध थे। फिर धीरे-धीरे उनका क्या हुआ, किसी को पता नहीं लगा। खुद मेरे पास क्रान्तिकारी भवानी सिंह रावत, मन्मथनाथ गुप्त, दुर्गा भाभी, सुरेंद्र पांडेय, शिव वर्मा, जयदेव कपूर, सदाशिवराव मलकापुरकर, भगवानदास माहौर, वीरेंद्र पांडेय, कुलतार सिंह आदि की स्मृति के रूप में उनके दुर्लभ पत्रों का विपुल संग्रह है, जिसे प्रकाश में लाने की जरूरत है। मैंने अनेक बार माँग की कि दिल्ली में शहीदों और क्रान्तिकारियों की निशानियों का एक बड़ा संग्रहालय स्थापित किया जाये।

साभार-- जनसत्ता

पृष्ठ 71 का शेष...

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ट्रम्प हर रोज, हर घंटे अराजक और विनाशक स्थिति पैदा कर रहे हैं लेकिन उनकी हरकतों की असली कीमत पर्यावरण को तथा उसकी तबाही से सबसे ज्यादा प्रभावित होनेवाली प्रजातियों और जनता को चुकानी पड़ रही है।

मध्य काल के इतिहास को कैसे पढ़ा जाये

--डॉ. महरउद्दीन खाँ

धर्म के नाम पर राजनीति करने वालों की हर समय यह कोशिश रहती है कि भारत के इतिहास को साम्प्रदायिक बना कर पेश किया जाये। बाबर-राणा सांगा की लड़ाई हो या अकबर महाराणा प्रताप की या शिवाजी और औरंगजेब की। ये लोग राणा सांगा, महाराणा प्रताप और शिवाजी को हिन्दू बना कर पेश करते हैं तथा बाबर, अकबर और औरंगजेब को मुसलमान बना कर।

सही बात तो यह है कि राजा, राजा होता था, उसकी सेना में हिन्दू-मुसलमान सभी होते थे। जब राजा को मौका मिलता था, वह हिन्दू-मुसलमान सभी के साथ लूटमार करते थे। मन्दिर ज्यादा इसलिए लूटे जाते थे कि वहाँ सोना-चाँदी और धन जमा होता था। मस्जिदों में ऐसा कुछ न पहले होता था, न अब होता है।

राजाओं का काम अपने राज का विस्तार करना होता था। उनके रास्ते में जो भी आता था, वह उनका दुश्मन होता था। अगर राजाओं का धर्म से कुछ लेना-देना होता तो कोई हिन्दू राजा किसी हिन्दू राजा पर हमला नहीं करता। कोई मुसलमान राजा किसी मुसलमान राजा पर हमला नहीं करता। साम्प्रदायिकता की राजनीति करने वाले राजाओं को भी धर्म का रखवाला बना कर पेश करते हैं। राजाओं का काम ज्यादा से ज्यादा इलाका अपने कब्जे में करना होता था। वे ज्यादा से ज्यादा टैक्स वसूल करके अय्याशी करना चाहते थे।

किसी राजा ने कभी धर्मयुद्ध नहीं लड़ा। अगर किसी राजा के बारे में ऐसा कहा जाता है तो यह झूठ है। जहाँ तक धार्मिक स्थानों को तोड़ने की बात है तो पहले न तो ईंट के भट्ठे थे न सीमेंट के कारखाने और न पत्थर तराशने के कारखाने थे। एक स्थान का मलबा दूसरे में प्रयोग करना आम बात थी। धार्मिक रंग देकर अपनी राजनीति करने वालों को पता होना चाहिए कि राजतंत्र का बदला लोकतंत्र में नहीं लिया जा सकता।

यहाँ एक बात बड़ी मजेदार है कि साम्प्रदायिक ताकतों का इतिहास बाबर से शुरू होकर औरंगजेब पर खत्म होता है। फिर मुस्लिम लीग के जन्म से देश के बँटवारे पर खत्म हो जाता है। बाबर से पहले का समय इनके इतिहास का विषय नहीं है। न ही अंग्रेजों की गुलामी और उनके द्वारा दी गयी गुलामी की निशानियाँ इनके इतिहास में हैं।

हम बाबर से शुरू करते हैं। बाबर के साथ लड़ाई में राणा सांगा अकेला नहीं था। हसन खाँ मेवाती और महमूद लोदी भी उसके साथ थे। इब्राहीम लोदी का भाई सुल्तान अहमद लोदी भी बाबर से लड़ने के लिए राणा के झंडे तले आ गया। इस तरह बाबर के खिलाफ लड़ाई में उस समय भारत के हिन्दू और मुसलमान एकजुट थे।

बाबर के बाद उसका बेटा हुमायूँ राजा बना। शेरशाह के हमले के समय ब्रह्मजीत गौड़ उसका पीछा कर रहा था। उस समय अटेल के राजा वीरभान ने हुमायूँ को नदी पार कराई थी। वीरभान ने अपनी सहायता की भावना से यह काम किया था। अगर उसमें हुमायूँ के धर्म के बारे में कोई गलत विचार होता तो वह उसे वहीं खत्म कर सकता था। हुमायूँ जब अमरकोट पहुँचा तो राजपूतों और जाटों की सेना ने उसे भरपूर मदद पहुँचाई थी। हुमायूँ ने जब अमरकोट छोड़ा तो उसकी बेगम हमीदा बानो गर्भवती थी तथा पूरे दिन से थी। इसलिए बेगम को वहीं उसने राजपूत स्त्रियों के पास छोड़ दिया। यहीं पर हुमायूँ के जाने के तीन दिन बाद अकबर का जन्म हुआ था। अमरकोट के राजा ने हुमायूँ की बेगम की अपनी बेटी की तरह देखभाल की थी।

साम्प्रदायिक लोग अकबर को मुसलमान और राणा प्रताप को हिन्दू बना कर पेश करते हैं। अकबर ने धर्म के नाम पर खड़ी की गयी दीवारों को तोड़ा था। उसने राजपूत कुल में शादी की थी। उसने दीन-ए-इलाही नाम से नया धर्म चलाने की भी कोशिश की थी। राणा प्रताप के नाम पर राजनीति करने वालों ने अकबर को भी नहीं बख्शा। असलियत यह है कि राणा प्रताप अपने राज्य की रक्षा के लिए लड़ रहे थे और अकबर अपने राज्य के विस्तार के लिए। न ही राणा प्रताप का मकसद हिन्दू धर्म की रक्षा करना था, और न ही अकबर का मकसद इस्लाम की रक्षा करना था। अगर ऐसा होता तो राणा प्रताप के साथ मुसलमान न होते और अकबर के साथ हिन्दू न होते।

अकबर की सेना का सेनापति राजा मानसिंह था। राणा प्रताप की सेना के आगे हकीम खान सूर अपने आठ सौ घुड़सवारों के साथ चल रहा था। इस लड़ाई को हिन्दू-मुसलमान की लड़ाई कहना इतिहास का मजाक उड़ाना है। अकबर ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए बहुत कुछ किया था। अकबर ने गाय के मांस पर पूरी तरह पाबन्दी लगा दी थी। यही नहीं जो हिन्दू किसी कारण से मुसलमान बन गये थे उन्हें फिर से हिन्दू बनने की इजाजत दे दी थी।

अकबर के नवरत्नों में राजा टोडरमल, बीरबल और तानसेन जैसी हस्तियाँ थीं।

अकबर की सेना में राजा मानसिंह का पुत्र जगत सिंह, राय रैयन (विक्रमादित्य द्वितीय), राय लौन करण, राम चन्द्र बघेल, बाथ का राजा आदि प्रमुख सेनापति थे।

अकबर ने संस्कृत ग्रंथों के अरबी और फारसी में अनुवाद की परम्परा भी शुरू करायी। अकबर ने उस समय की हिन्दी को भी खूब बढ़ावा दिया था। अकबर ने बीरबल को कविराज की उपाधि दे रखी थी। राजा भगवान दास, राजा मान सिंह, अब्दुर्रहीम खानखाना अकबर के दरबारी हिन्दी कवि थे। दरबार से बाहर तुलसीदास, सूरदास, नाभाजी, केशव आदि कवियों ने अकबर के समय ही कविता की थी। गोपाल भट्ट नामक कवि को भी अकबर के दरबार में पूरी इज्जत मिली थी।

अकबर के बेटे सलीम के विद्रोह में भी हिन्दू-मुसलमान दोनों सलीम के साथ थे। ओरछा के सरदार बीर सिंह देव ने अबुल फजल को मार दिया था। जिस पर गुस्सा होकर अकबर ने बीर सिंह देव को मारने का फरमान जारी कर दिया। तब सलीम ने बीर सिंह देव का साथ दिया और उसे बचा लिया था, यही नहीं अकबर की मृत्यु के बाद जब सलीम, जहाँगीर के नाम से गद्दी पर बैठा तो उसने बीर सिंह देव को अपने दरबार में ऊँचा ओहदा भी दिया।

जहाँगीर के शासन में जब बीकानेर के पाँच हजारी मनसबदार राम सिंह ने विद्रोह किया तो इसे दबाने के लिए अम्बर के राय जुगाथ कछवाहा को भेजा गया। इसी तरह उड़ीसा के राजा पुरुषोत्तम दास को हराने के लिए टोडरमल के पुत्र कल्याण सिंह को भेजा गया था।

गलती करने पर जहाँगीर किसी मौलवी के साथ भी रियायत नहीं करता था। जहाँगीर ने मूर्खतापूर्ण उपदेश देने पर शेख इब्राहीम बाबा को चुनार में और शेख अहमद बाबा को ग्वालियर की कैद में डाल दिया था। जहाँगीर के दरबार में चित्रकार बिशनदास और हिन्दी विद्वान जदरूप गोसाई तथा राम मनोहर लाल को काफी सम्मान मिला हुआ था।

जहाँगीर ने हिन्दुओं को मन्दिर बनाने की पूरी छूट दी थी। उन्हें बिना कोई कर अदा किये धार्मिक यात्राएँ करने की छूट भी दी थी। इस तरह जहाँगीर को किसी भी हालत में साम्प्रदायिक नहीं कहा जा सकता। पंडित जवाहर लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'भारत की खोज' में, जहाँगीर को आधा मुगल और आधा राजपूत बताया है।

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ ने भी हिन्दू-मुस्लिम एकता की मशाल को जलाए रखा। शाहजहाँ के समय में कमलाकर भट्ट ने 'निर्णय सिंधु' की रचना की। कवींद्राचार्य ने ऋग्वेद की व्याख्या लिखी, नित्यानंद ने ज्योतिष शास्त्र के ग्रंथ लिखे। पंडित जुगाथ ने दारा शिकोह और आसफ खान की प्रशंसा में कविताएँ लिखीं। हिन्दू विधि विधान के लेखक मित्र मिश्र भी शाहजहाँ के ही समय में फले-फूले थे।

साम्प्रदायिक ताकतें शाहजहाँ के बाद गद्दी पर बैठे औरंगजेब और शिवाजी की लड़ाई को भी हिन्दू-मुस्लिम की लड़ाई बना कर पेश करती हैं। यह लड़ाई भी हिन्दू-मुस्लिम की न हो कर एक मराठा सरदार शिवाजी की राजा औरंगजेब से बगावत थी। इस बगावत में कई मुसलमान शिवाजी के साथ, तो कई हिन्दू शिवाजी के खिलाफ लड़े थे।

औरंगजेब ने शिवाजी से लड़ने के लिए राजा जय सिंह को भेजा था। जय सिंह की सेना में दो हजार मराठा घुड़सवार और सात हजार पैदल सिपाही नेताजी पालकर की कमान में शिवाजी के विरुद्ध लड़ रहे थे। शिवाजी की सेना में दिलेर खाँ ने मुगल सेना के छक्के छुड़ा दिये थे। शिवाजी की सेना में भी हजारों मुसलमान घुड़सवार और पैदल सैनिक थे। यही नहीं, शिवाजी के मुंशी भी काजी हैदर खाँ थे। औरंगजेब और शिवाजी की लड़ाई हिन्दू-मुसलमानों की लड़ाई तो थी ही नहीं। यह मुगलों-मराठों की लड़ाई भी नहीं थी। बहुत से इज्जतदार मराठा सरदार हमेशा मुगलों की सेना में रहे। सिन्द खेड के जाधव राव के अलावा कान्होजी शिर्के, नागोजी माने, आवाजी ढल, रामचन्द्र और बहीर जी पंढेर वगैरह मराठा सरदार मुगलों के साथ रहे थे।

राजा, राजा होता था हिन्दू या मुसलमान नहीं। शिवाजी ने जब मुगलों के व्यापार केन्द्र सूरत पर हमला किया तो शिवाजी के सैनिकों ने वहाँ चार दिन तक हिन्दू व्यापारियों के साथ जम कर लूटपाट की। सूरत के मशहूर व्यापारी वीर जी बोरा थे, जिसके अपने जहाज थे। उस समय उसकी सम्पत्ति अस्सी लाख रुपये थी। शिवाजी ने वीर जी बोरा को भी जम कर लूटा। औरंगजेब ने सूरत की सुरक्षा के लिए सेना भेजी। उसने तीन साल तक व्यापारियों से चुंगी न वसूल करने का हुक्म भी जारी कर दिया।

औरंगजेब ने अनेक ब्राह्मणों व जैनों को जायदाद के लिए स्थायी पट्टे भी जारी किये थे। औरंगजेब के ये फरमान आज भी सुरक्षित हैं। बनारस में गोसाई माधव दास, गोसाई राम जीवन दास और पालीताना में जैन जौहरी सतीदास को ऐसे ही फरमान दिये गये थे।

अकबर के जमाने में हिन्दू मनसबदारों की संख्या केवल 32 थी। जहाँगीर के जमाने में यह 56 हो गयी। औरंगजेब के जमाने में यह बढ़कर 104 हो गयी थी। इससे यह साबित होता है कि औरंगजेब को हिन्दुओं से कोई बैर नहीं था। दरबार में और सेना में हिन्दुओं की भर्ती बिना किसी भेदभाव के की जाती थी। मुगल शासन का यह समय हिन्दू-मुस्लिम भाईचारे का एक सुनहरा समय था। आज स्वार्थी लोग इस सुनहरे इतिहास पर कालिख पोतना चाहते हैं।

यह वही समय था जब कबीरदास ने पाखंडों के लिए हिन्दू पंडितों और मौलवियों दोनों को लताड़ा था। आज की तरह किसी मौलवी की हिम्मत कबीरदास के खिलाफ कोई फतवा जारी करने की नहीं हुई। न ही कोई पंडित कबीरदास को दंड दे सका।

नफरत की जो चिंगारी आज फैलायी जा रही है वह मुगलों के शासन काल में नहीं थी। गुरु अर्जुन देव ने 1588 में किया था। औरंगजेब का यह विरोध पत्र

अदब-ए-आलमगीरी में सुरक्षित है।

सही मायने में भारत की गुलामी का दौर अंग्रेजों के शासन से ही शुरू होता है। मुगल विदेशी थे। मगर यहाँ आने के बाद वह यहीं के होकर रह गये। उन्होंने जो कमाया यहाँ की जनता पर यहीं खर्च किया। यहाँ की दौलत को लूट कर वह देश से बाहर नहीं ले गये। मुगलों ने न यहाँ का धर्म बिगाड़ा, न भाषा बिगाड़ी, न संस्कृति, न खान-पान-पहनावा बिगाड़ा। इस देश से उन्हें कितना प्यार था इसकी झलक अंतिम मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर की इन पंक्तियों से मिलती है--

है कितना बदनसीब जफर दफन के लिए
दो गज जमीं भी न मिली कूए यार में

1857 में आजादी की पहली लड़ाई में आजादी के दीवानों ने बहादुरशाह जफर को ही अपना राजा माना था। बहादुर शाह जफर का देशप्रेम देखिये कि उसके जवान बेटों के सर कलम कर उसे पेश किये गये और उसने उफ तक न किया। बहादुरशाह जफर को अंग्रेजों ने रंगून जेल में डाल दिया। कैदी बना यह बादशाह भारत में दफन होना चाहता था मगर वह भी उसे नसीब न हो सका।

इस बादशाह की पहले से तैयार की गयी खाली कब्र आज भी महरौली में मौजूद है। जिन अंग्रेजों ने हमारा खान-पान-पहनावा और भाषा तक हमसे छीन ली और जिन्होंने भारत को भिखारी बना दिया, उनके खिलाफ ये साम्प्रदायिक लोग एक शब्द बोलना भी पसन्द नहीं करते।

दरअसल अंग्रेजों ने दोनों धर्मों के बीच विष बीज बोने के लिए इतिहास को तोड़ना-मरोड़ना शुरू कर दिया। अंग्रेजों की इसी परम्परा को आज साम्प्रदायिकता की राजनीति करने वाले आगे बढ़ा रहे हैं। वे भी फूट डालो और राज करो की नीति पर चलते थे। ये भी उसी नीति पर चल रहे हैं। आज इतिहास की सही जानकारी ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचाने की जरूरत है।

साभार- समरथ

पृष्ठ 72 का शेष ...

इस खबर से ऐसी क्या मानहानि हो गयी? किसी टीवी चौनल ने इस पर चर्चा कर दी? नहीं न। सब तो चुप ही थे। चुप रहते भी। रहेंगे भी।

कई बार खबरें समझ नहीं आती, दूसरे के दस्तावेज पर कोई तीसरा जिम्मा नहीं उठाता, कई बार चौनल या अखबार रुककर देखना चाहते हैं कि यह खबर कैसे आकार ले रही है?

राजनीति में किस तरह से और तथ्यात्मक रूप से किस तरह से। यह जरूरी नहीं कि टीवी दूसरे संस्थान की खबर को करे ही। वैसे टीवी कई बार करता है। कई बार नहीं करता है। हम ही एक हफ्ते से उच्च शिक्षा की हालत पर प्राइम टाइम कर रहे हैं, किसी ने नोटिस नहीं लिया।

लेकिन, जब चौनलों ने कांग्रेस नेता कपिल सिब्बल की प्रेस कॉन्फ्रेंस का बहिष्कार किया तो उन्हें पीयूष गोयल की प्रेस कॉन्फ्रेंस का भी बहिष्कार करना चाहिए था। जब सिब्बल का नहीं दिखाए तो गोयल का क्यों दिखा रहे थे?

अव्वल तो दोनों को ही दिखाना चाहिए था। लाइव या बाद में उसका कुछ हिस्सा दिखा सकते थे या दोनों का लाइव दिखा कर बाद में नहीं दिखाते। यह मामला तो सीधे-सीधे विपक्ष को जनता तक पहुँचने से रोकने का है। सिब्बल वकील हैं। उन्हें भी अदालत में विपक्ष के स्पेस के लिए जाना चाहिए। बहस छेड़नी चाहिए।

इस तरह से दो काम हो रहे हैं। मीडिया में विपक्ष को दिखाया नहीं जा रहा है और फिर पूछा जा रहा है कि विपक्ष है कहां। वो तो दिखाई ही नहीं देता है।

दूसरा, प्रेस को डराया जा रहा है कि ऐसी खबरों पर हाथ मत डालो, ताकि हम कह सके कि हमारे खिलाफ एक भी करप्शन का आरोप नहीं है। ये सब होने के बाद भी चुनाव में पैसा उसी तरह बह रहा है। उससे ज्यादा बहने वाला है। देख लीजिएगा और हो सके तो गिन लीजिए।

एक सवाल और है। क्या वायर की खबर पढ़ने के बाद सीबीआई अमित शाह के बेटे के घर पहुँच गयी, आयकर अधिकारी पहुँच गये? जब ऐसा हुआ नहीं और जब ऐसा होगा भी नहीं तो फिर क्या डरना। फिर मानहानि कैसे हो गयी?

फर्जी मुकदमा होने का भी चांस नहीं है। असली तो दूर की बात है। एबीसी चौनल ने अडानी ग्रुप की खबर दिखाई तो प्रवर्तन निदेशालय यानी ईडी अडानी के यहाँ छापे मारने लगा क्या? नहीं न। तो फिर मानहानि क्या हुई?

अदालत को भी आदेश देना चाहिए कि खबर सही है या गलत, इसकी जांच सीबीआई करे, ईडी करे, आयकर विभाग करे फिर सबूत लेकर आए, उन सबूतों पर फैसला हो। खबर सही थी या नहीं। खबर गलत इरादे से छापी गयी या यह एक विशुद्ध पत्रकारीय कर्म था।

एक तरीका यह भी हो सकता था। इस खबर का बदला लेने के लिए किसी विपक्ष के नेता के यहाँ लाइव रेड करवा दिया जाता। जैसा कि हो रहा है और जैसा कि होता रहेगा। सीबीआई, आयकर विभाग, ईडी इनके अधिकारी तो पान खाने के नाम पर भी विपक्ष के नेता के यहाँ रेड मार आते हैं।

किसी विपक्ष के नेता की सीडी तो बनी ही होगी, गुजरात में चुनाव होने वाले हैं, किसी न किसी को बन ही गयी होगी। बिहार चुनाव में भी सीडी बनी थी। जिनकी बनी थी पता नहीं क्या हुआ उन मामलों में। ये सब आज से ही शुरू कर दिया जाए और आई टी सेल लगाकर काउंटर कर दिया जाए।

(साभार)

तबाही की भूख :
पर्यावरण के खिलाफ ट्रम्प का युद्ध

--जोशुआ फ्रांक

लास बेगास के बेवजह नर-संहार से लेकर प्योर्तो रिको में हरिकेन मारिया के खौफनाक असर तक, नार्थ कोरिया को ट्रम्प की उदण्ड धमकियों से लेकर ह्वाईट हाउस के भीतर की कलह के खुलासे तक-- दुनिया के पागलपन और राष्ट्रपति ट्रम्प की कुटिल कुचाल में गायब हो जाना कोई मुश्किल नहीं है। इसमें कोई शक नहीं कि यह एक खतरनाक भँवर है, लेकिन ट्विटर पर ट्रम्प की हुल्लड़बाजी और कागजी तौलिये उछालने वाला फोटो सेशन उसके प्रशासन द्वारा पर्यावरण पर निरंकुश हमले से ध्यान बँटाने के सिवा और कुछ नहीं।

इसी बीते हफ्ते ट्रम्प की टोली ने विलुप्त हो रही 25 प्रजातियों को बचाने से साफ-साफ इंकार कर दिया, जिसमें प्रशान्त महासागर का दरियाई घोड़ा और काली पीठ वाला कठफोड़वा शामिल हैं। जाहिरा तौर पर इसकी वजह यही है कि हमारी सरकार को चलाने वाले कार्पोरेट नवाबों की निगाह में विज्ञान कोई मायने नहीं रखता।

सेंटर फॉर बायोलोजिकल डायवर्सिटी के लुप्तप्राय प्रजाति निदेशक नोआ ग्रीनवाल्ड का कहना है कि "जलवायु परिवर्तन और वास-स्थान के बढ़ते विनाश के बावजूद इन 25 प्रजातियों के बचाव से इनकार करना ट्रम्प प्रशासन का बालू में सिर घुसानेवाला ठेठ नजरिया है।"

हमारे देश की लुप्तप्राय प्रजातियों की ट्रम्प द्वारा अवहेलना किये जाने की यह केवल एक ताजा मिसाल है। जून में, ट्रम्प ने येलोस्टोन के संकटग्रस्त भूरे भालू को संरक्षण देने का काम बन्द कर दिया था।

जैसा कि स्टीव हॉर्न और मैंने हाल ही में सूचित किया था, पर्यावरण समुदाय की नाक के नीचे ट्रम्प प्रशासन एक नये कानून के साथ आगे बढ़ रहा है जो पर्यावरण से जुड़ी समीक्षा को दरकिनार कर के अमरीका में कुछ खास किस्म की तरल प्राकृतिक गैस निर्यात करने की इजाजत देगा, जो अमरीका की विराट तेल और गैस कम्पनियों का एक शब्दशः कामुक सपना रहा है। कई मामलों में, पर्यावरण के खिलाफ ट्रम्प का युद्ध और खनिज ईंधन की भूख के मामले में वाशिंगटन के तथाकथित विपक्ष की साझेदारी है। मसलन, तरल प्राकृतिक गैस निर्यात को बढ़ावा देने के लिए जोर लगाने की शुरुआत क्लिंटन के पुराने चुनाव प्रचारकों ने ही कर दी थी।

फिर क्लिंटन द्वारा एनवायर्नमेंट प्रोटेक्शन एजेंसी के खुलेआम विनाश की योजना बनायी गयी जो आज भी जारी है, यह योजना पर्यावरण सम्बन्धी लूट-खसोट को रोकने का अन्तिम उपाय है। वास्तव में, ट्रम्प द्वारा इस संस्था को नख-दन्त विहीन किया जाना एक चुनावी वादा है जिसे निभाने में वे कामयाब हुए हैं। इस संस्था में सिर्फ 14,000 कर्मचारी हैं, लेकिन ट्रम्प इस तादाद को काफी कम करने की भरपूर कोशिश कर रहे हैं। न केवल मौजूदा भर्ती पर रोक लगा दी गयी है, बल्कि पिछले जून में रिपोर्ट आयी थी कि एनवायर्नमेंट प्रोटेक्शन एजेंसी अपने 12,000 कर्मचारियों को एकमुश्त भुगतान के प्रस्ताव की योजना बना रही है। यह एक तरह की जबरिया सेवानिवृति है। सितम्बर में ऐसी जबरिया सेवा निवृति की लहर चल पड़ी और पिछले महीने कम से कम 362 कर्मचारियों ने ट्रम्प के एकमुश्त भुगतान प्रस्ताव को स्वीकार किया। रीगन काल के बाद से यह संस्था इतनी छोटी और लाचार कभी नहीं थी।

यह सबकुछ योजना के अनुरूप है। संसद की मदद से ट्रम्प यह उम्मीद करते हैं कि वे अगले साल एजेन्सी के बजट में 31 प्रतिशत की कटौती कर देंगे। इस संस्था के प्रशासक स्कॉट प्रूईट, जिन्होंने घृणित रूप से जलवायु परिवर्तन के अस्तित्त्व से ही इंकार किया था, वे इस एजेन्सी के उपकरणों में से सभी तरह के विज्ञान को मिटा देने के ट्रम्प के मंसूबों को आगे बढ़ा रहे हैं। लेकिन एजेन्सी में वैज्ञानिक शोध पर प्रतिबन्ध लगाने से बेहतर भला क्या हो सकता है? क्यों न सभी कर्मचारियों को एक साथ ही निकाल कर इस संस्था से छुट्टी पा लिया जाय। अफसोस कि ट्रम्प उसी राह पर आगे बढ़ रहे हैं, जिसे ओबामा ने शुरू किया था। अपने दूसरे शासन काल में ओबामा प्रशासन ने इस संस्था के 436 कर्मचारियों को एकमुश्त भुगतान करके छुट्टी देने के लिए 1।10 करोड़ डॉलर दिये थे।

हालाँकि, ट्रम्प और प्रूईट अगर इसी दिशा में बढ़ते रहे तो वे ओबामा की चाल को एक कदम और आगे बढ़ाएँगे और सुपरफंड क्लीन-अप कोष के साथ-साथ एजेन्सी के 50 दूसरे कार्यक्रमों को कूड़ेदान में फेंक देंगे। इस संस्था का पर्यावरण न्याय कार्यालय भी बलिवेदी पर जाने को है, जो सबसे ज्यादा पर्यावरण की मार झेलनेवाले हमारे गरीबों और अल्संख्यक समुदायों के हित में काम करता है।

निश्चय ही, ट्रम्प विदेशों में तेल निकालने का विस्तार और उसके साथ-साथ अनवार में तेल खोजने की शुरुआत को आगे बढ़ानेवाले एक कार्यकारी आदेश पर दस्तखत करने जा रहे हैं। और आन्तरिक मामलों के मंत्री जिन्के के साथ मिलकर हमारी राष्ट्रीय धरोहरों की संख्या घटाकर आधी करने की योजना बना रहे हैं। इसे पलटने के लिए वे इन जंगली जमीनों को तेल और गैस के विकास के लिए खोलने की भी माँग कर रहे हैं। कोई भी चीज पवित्र नहीं है।

शेष पृष्ठ 67 पर...

मानहानि मानहानि, घोघो रानी कितना पानी।

--रवीश कुमार

ऑस्ट्रेलिया के जिन शहरों का नाम हम लोग क्रिकेट मैच के कारण जानते थे, वहाँ पर एक भारतीय कम्पनी के खिलाफ लोग प्रदर्शन कर रहे हैं। शनिवार को एडिलेड, कैनबरा, सिडनी, ब्रिसबेन, मेलबर्न, गोल्ड कोस्ट, पोर्ट डगलस में प्रदर्शन हुए हैं।

शनिवार को ऑस्ट्रेलिया भर में 45 प्रदर्शन हुए हैं। अडानी वापस जाओ और अडानी को रोको टाइप के नारे लग रहे हैं। वहाँ के करदाता नहीं चाहते हैं कि इस प्रोजेक्ट की सब्सिडी उनके पैसे से दी जाए।

अडानी ग्रुप के सीईओ का बयान छपा है कि प्रदर्शन सही तस्वीर नहीं है। स्थानीय लोग हमारा समर्थन कर रहे हैं। जेयाकुरा जनकराज का कहना है कि जल्दी ही काम शुरू होगा और नौकरियां मिलने लगेंगी। यहाँ का कोयला भारत जाकर वहाँ के गाँवों को बिजली से रोशन करेगा।

पिछले हफ्ते ऑस्ट्रेलिया के चैनल एबीसी ने अडानी ग्रुप पर एक लम्बी डॉक्यूमेंट्री बनाकर दिखाई। इसका लिंक आपको शेयर किया था। युवा पत्रकार उस लिंक को जरूर देखें, भारत में अब ऐसी रिपोर्टिंग बन्द ही हो चुकी है। इसलिए देख कर आहें भर सकते हैं। अच्छी बात है कि उस डॉक्यूमेंट्री में प्रशान्त भूषण हैं, प्रंजॉय गुहा ठाकुरता हैं।

प्रंजॉय गुहा ठाकुरता ने जब ईपीडब्ल्यू में अडानी ग्रुप के बारे में खबर छापी तो उन पर कम्पनी ने मानहानि कर दिया और नौकरी भी चली गयी। अभी तक ऐसी कोई खबर निगाह से नहीं गुजरी है कि अडानी ग्रुप ने एबीसी चौनल पर मानहानि का दावा किया हो।

स्वदेशी पत्रकारों पर मानहानि, विदेशी पत्रकारों पर मानहानि नहीं। अगर वायर की खबर एबीसी चौनल दिखाता तो शायद अमित शाह के बेटे जय शाह मानहानि भी नहीं करते। क्या हमारे वकील, कम्पनी वाले विदेशी संपादकों या चौनलों पर मानहानि करने से डरते हैं?

एक सवाल मेरा भी है। क्या अंग्रेजी अखबारों में छपी खबरों का हिंदी में अनुवाद करने पर भी मानहानि हो जाती है? अनुवाद की खबरों या पोस्ट से मानहानि का रेट कैसे तय होता है, शेयर करने वालों या शेयर किए गये पोस्ट पर लाइक करने वालों पर मानहानि का रेट कैसे तय होता है? चार आना, पांच आना के हिसाब से या एक-एक रुपया प्रति लाइक के हिसाब से?

पीयूष गोयल को प्रेस कॉन्फ्रेंस कर इसका भी रेट बता देना चाहिए कि ताकि हम लोग न तो अनुवाद करें, न शेयर करें न लाइक करें। सरकार जिसके साथ रहे, उसका मान ही मान करें। सम्मान ही सम्मान करें। न सवाल करें न सर उठाएं।

हम बच्चे भी खेलते हुए गाएं- मानहानि मानहानि, घोघो रानी कितना पानी। पांच लाख, दस लाख, एक करोड़, सौ करोड़।

यह सब इसलिए किया जा रहा है कि भीतरखाने की खबरों को छापने का जोखिम कोई नहीं उठा सके। इससे सभी को संकेत चला जाता है कि दंडवत हो, दंडवत ही रहो। विज्ञापन रुकवाकर धनहानि करवा देंगे और दूसरा कोर्ट में लेकर मानहानि करवा देंगे। अब यह सब होगा तो पत्रकार तो किसी बड़े शख्स पर हाथ ही नहीं डालेगा। ये नेता लोग जो दिन भर झूठ बोलते रहते हैं, क्या इनके ख़िलाफ मानहानि होती रहे?

अमित शाह एक राजनीतिक शख्स हैं। तमाम आरोप लगते रहे हैं। वे उसका सामना भी करते हैं, जवाब भी देते हैं और नजरअंदाज भी करते हैं।

वायर की खबर में आरोप तो हैं नहीं। जो कम्पनी ने रिकॉर्ड जमा किए हैं उसी का विश्लेषण है। फिर कम्पनी रजिस्ट्रार को दस्तावेज जमा कराने और उस आधार पर लिखने या बोलने से समस्या है तो ये भी बन्द करवा दीजिए।

अमित शाह के बेटे के बारे में खबर छपी। पिता पर तो फेक एनकाउंटर मामलों में आरोप लगे और बरी भी हुए। सोहराबुद्दीन मामले में तो सीबीआई ट्रायल कोर्ट के फैसले पर अपील ही नहीं कर रही है।

उन पर करप्शन के आरोप नहीं लगे हैं। इसके बाद भी अमित शाह आए दिन राजनीतिक आरोपों का सामना करते रहते हैं। जवाब भी देते हैं और नजरअंदाज भी करते हैं।

कायदे से उन्हें ही आकर बोलना चाहिए था कि पुत्र ने मेरी हैसियत का कोई लाभ नहीं लिया है। मगर रेल मंत्री बोलने आ गये। मानहानि का फैसला अगर पुत्र का था तो रेल मंत्री क्यों ऐलान कर रहे थे?

शेष पृष्ठ 70 पर...